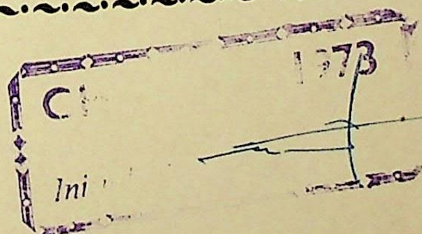
सम्राट् रघु

इन्द्र विद्यावाचस्पति



ईश्वरार्पणमस्तु





सम्राट् रघु

महाकवि कालिदास रचित
'रघुवंश' महाकाव्य के प्रथम
७ सर्गों का भावानुवाद

इन्द्र विद्यावाचस्पति

प्राप्ति स्थान—

१. विजय पुस्तक भण्डार
श्रद्धानन्द बाज़ार, दिल्ली

२. आर्य पुस्तक भण्डार
नई सड़क, दिल्ली

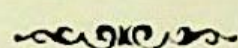
३. आत्माराम एण्ड सन्स
काश्मीरी गेट, दिल्ली

प्रथमावृत्ति १०००　　[दिसम्बर १९५०]

मूल्य　सवा रुपया

मुद्रक—
'अर्जुन' प्रेस
श्रद्धानन्द बाजार, दिल्ली

विषय-सूची





प्रस्तावना

[१]

कार्य की कठिनता

छात्रावस्था से ही मुझे कालिदास के काव्यों के पारायण का व्यसन रहा है। अब तक भी रिक्त समय को काटने या मनोरंजन के लिये उपन्यास के स्थान पर मैं प्रायः कालिदास का कोई काव्य पढ़ा करता हूं। जितना ही अधिक मैंने कवि-सम्राट के काव्यों का अनुशीलन किया, उतना ही अधिक उनका सौन्दर्य और गौरव मेरे मन पर अङ्कित होता गया।

कई प्राचीन साहित्यालोचकों ने कालिदास के ग्रन्थों में सब से उत्कृष्ट अभिज्ञान शाकुन्तल को ठहराया है। शाकुन्तल में ललित शब्दों और कोमल भावनाओं का ऐसा अच्छा मिश्रण है कि उसकी उपमा मिलनी कठिन है। इस दृष्टि से उसका स्थान न केवल कालिदास के ग्रन्थों में या संस्कृत के वाङ्मय में, अपितु विश्व के साहित्य में ऊंचा माना जाय तो उचित ही है, परन्तु दो कारणों से मैंने रघुवंश को पहला स्थान दिया है। प्रथम कारण तो यह है कि

वह महाकाव्य है। उसमें वर्णनीय विषयों और रसों की इतनी विविधता है कि कवि को अपनी प्रतिभा के प्रकाशन का पूरा अवसर मिला है। दूसरा कारण यह है कि रघुवंश में हम कालिदास के काल की अवस्था तथा भावना का विशद तथा उज्ज्वल चित्र देखते हैं। यह ठीक है कि रघुवंश महाकाव्य में सम्राट् रघु और उसके वंशजों की कहानी चित्रित की गई है, परन्तु गम्भीर दृष्टि से पढ़ने वाला पाठक इस परिणाम पर पहुँचे बिना नहीं रह सकता कि उस चित्रावली की पृष्ठभूमि में महाकवि का समय विद्यमान है।

मैंने इस पुस्तक का नाम 'सम्राट् रघु का जीवन वृत्तान्त' रखा है। वस्तुतः यह रघुवंश के पहले सात सर्गों का भावानुवाद है। इस प्रयत्न द्वारा मैंने एक ही बाण से दो लक्ष्यों को बींधने का यत्न किया है। एक प्रतापी आर्य सम्राट् का जन्म से मृत्यु तक का जीवन वृत्तान्त सुनाने तथा लोकभाषा में कवि-कुल-गुरु कालिदास के काव्यामृत की बानगी दिखाने की यह चेष्टा कवि-कुल-गुरु के शब्दों में ऊंचे वृक्ष के फल को प्राप्त करने की वामन की चेष्टा के समान ही है, पर सन्तोष इतना ही है कि यह पृथ्वी मुझ जैसे वामनों से भरी पड़ी हैं। एक साहित्यिक वामन को वामनों का संसार क्षमा न करेगा तो कौन करेगा। बहुत से 'प्रांशु' महानुभाव भी हैं, वे तो अपनी प्रांशुता के कारण ही मेरे इस प्रयत्न को क्षन्तव्य समझेंगे।

मैंने रघुवंश के श्लोकों का शब्दानुवाद नहीं किया। शब्दानुवाद से मैं कवि के आन्तरिक भाव को पाठकों तक नहीं पहुँचा सकता था। मैंने प्रयत्न किया है कि मैं कवि के आन्तरिक भावों को, सुबोध लोकभाषा में प्रतिबिम्बित कर दूं। फलतः यह रघुवंश के पहले सात सर्गों के प्रत्येक शब्द अथवा प्रत्येक श्लोक का भावानुवाद भी नहीं है। यह कहना अधिक संगत होगा कि यथासम्भव तथा यथाशक्ति कवि के भाव, और कवि की कथनशैली की रक्षा करते हुए सम्राट् रघु के तेजस्वी चरित को चित्रित करने का प्रयत्न किया गया है।

[२]

समय और स्थान

कालिदास के जन्मस्थान और जन्मकाल के सम्बन्ध में आज भी वैसा ही अनिश्चय बना हुआ है, जैसा आज से ५० वर्ष पूर्व था। प्रायः देश का प्रत्येक प्रान्त कालिदास की जन्मभूमि होने का दावा कर चुका है। काश्मीर, हिमाचल प्रदेश, मालवा, मगध, बङ्गाल तथा दक्षिण के पक्ष में प्रबल युक्तियों तथा प्रमाणों से सुसज्जित लेख लिखे गये हैं। यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि प्रान्त-विशेष का समर्थन प्रायः उसी प्रान्त के निवासी विद्वानों ने किया है। यह उस व्यापक और गहरे प्रेम तथा आदरभाव का सूचक है, जो भारतवासी मात्र के हृदय में कालिदास के लिये विद्यमान है। वे उसे अपनाना चाहते हैं, उसका जन्मस्थान अपने प्रान्त में, यदि हो सके तो अपने गांव में खोजना चाहते हैं। यदि महाकवि ने अपने किसी ग्रन्थ में जन्म-स्थान के सम्बन्ध में कोई इशारा दिया होता तो विवाद की कुछ बात ही न रहती। उसके अभाव में प्रत्येक भारतवासी की यह अभिलाषा स्वाभाविक ही है कि वह कालिदास को समदेशी सिद्ध करे। मैं स्थानसम्बन्धी तर्कवितर्क में न पड़ कर विद्वानों की सम्मतियों के आधार पर इस परिणाम पर पहुँचना अधिक सुन्दर और सार्थक

समझता हूं कि कालिदास का जन्मस्थान सम्पूर्ण भारतवर्ष था—उसे जन्म देने का श्रेय किसी एक प्रान्त को न दे कर, समूचे देश को देना चाहिये।

अन्वेषकों ने कालिदास के जन्मस्थान का निर्णय करने लिये जिन उपायों का सहारा लिया है उनमें से एक यह भी है कि कालिदास की रचनाओं से कवि के प्रान्तसम्बन्धी परिचय तथा प्रेम की परख की जाय। अन्वेषकों ने मान लिया है कि रचनाओं की छानबीन से जिस प्रदेश के साथ कवि का गहरा परिचय तथा प्रेम भासित होता हो कवि का जन्म उसी प्रदेश में हुआ होगा। बड़े आश्चर्य की बात यह है कि इस उपाय के सूत्र को पकड़ कर जब अन्वेषक लोग आगे बढ़े तो उनमें से प्रायः प्रत्येक अपने जन्मप्रदेश में पहुँच गया। मैं तो इसका मूल कारण यह समझता हूं कि कालिदास का देशप्रेम और देशपरिचय असाधारण रूप से व्यापक और गहरा था। देशभ्रमण का कवि को जो अवसर मिला, उसने अपनी निरीक्षण-शक्ति और अद्भुत प्रतिभा के बल से उससे पूरा लाभ उठाया। सम्पूर्ण भारतखण्ड के भिन्न-भिन्न प्रदेशों और उनकी विशेषताओं से जितना परिचय कालिदास का था, उतना शायद ही किसी अन्य कवि का हो। हिमालय की चोटियों, दक्षिण की नदियों और पूर्व तथा पश्चिम के वन उपवनों का बहुत ही वास्तविक और विशेषतापूर्ण वर्णन महाकवि के काव्यों तथा नाटकों में मिलता है। उसे पढ़कर प्रतीत होता है कि कवि ने चिरकाल तक बहुत समीप से उन स्थानों को देखा है। सामान्य व्यक्ति चिर-निवास के बिना उतना निरीक्षण नहीं कर सकता। कुमारसम्भव के प्रारम्भ में कालिदास ने हिमालय का मानो नखशिख वर्णन कर दिया है। उधर रघुवंश में रघु की दिग्विजय यात्रा का वर्णन पढ़िये तो आप अनुभव करेंगे कि कवि को भारत के कोने-कोने की भौगोलिक और मानवीय विशेषताओं का पुष्कल परिचय है। मेघदूत का अनुशीलन कीजिये तो आप भारत के उत्तर और दक्षिण के मुख्य दो

पर्वतों को आपस में मिलाने वाले मेरुदण्ड का मार्मिक वर्णन पायेंगे। कालिदास के इस व्यापक और गहरे परिचय का ही परिणाम है कि भारत के प्रत्येक प्रान्त का निवासी कवि के ग्रन्थों में अपने प्रान्त के इतने चिन्ह पा लेता है कि उसे कालिदास के समप्रान्तीय होने का विश्वास हो जाता है। यदि केवल किसी एक अंग पर दृष्टि न डालकर कवि के समस्त काव्यों पर पक्षपातहीन दृष्टि डाली जाय तो यही परिणाम निकलेगा कि कालिदास भारतवर्ष का निवासी था। उसका जन्म कहां हुआ था, इस प्रश्न का उत्तर तो समयान्तर में कोई पुरातत्ववेत्ता दे देंगे, मैं तो इतना ही कहना चाहता हूं कि महाकवि कलिदास भारतवर्ष का निवासी था, और यदि हम कालिदास के समय के भारतवर्ष को जानना चाहते हैं, तो उसका सर्वोत्कृष्ट चित्र कवि के काव्यों में पड़ा है।

दूसरा प्रश्न जन्मकाल का है। जन्मकाल के सम्बन्ध में भी विद्वानों के अनेक पक्ष हैं। विक्रम संवत् के संस्थापक सम्राट् विक्रमादित्य से लेकर छठी शताब्दी के किसी विक्रमादित्य तक के समय में महाकवि की सत्ता को सिद्ध करने के प्रयत्न किये गये हैं। इस विषय में, कालिदास के ग्रन्थों में अथवा अन्यत्र कोई सीधा प्रमाण नहीं मिलता। ख्याति के अनुसार कालिदास सम्राट् विक्रमादित्य की सभा के नवरत्नों में से अन्यतम थे। यह ख्याति संस्कृत साहित्य में सत्य करके मानी जाती रही है। स्वाभाविक तो यह था कि जब तक पुष्ट प्रमाणों से उस ख्याति का खण्डन न हो जाता, तब तक उसे स्वीकार किया जाता, परन्तु पश्चिम के समालोचकों ने संवत् के संस्थापक विक्रमादित्य की सत्ता पर ही आशंका उठादी। बस फिर क्या था, मानसिक पराधीनता काल के भारतीय विद्वान् एक दम विक्रमादित्य को केवल भूत प्रेतों जैसा कल्पित व्यक्ति मान कर ताम्रपत्रों और शिलालेखों में से किसी अन्य विक्रमादित्य को ढूंढ निकालने का यत्न करने लगे। कई विक्रमादित्य खोद कर निकाले गये, परन्तु यह बतलाने वाला

कोई शिलालेख अब तक भी नहीं मिला, कि उनमें से किस के समय में महाकवि ने कविता की। ऐसी दशा में, मैं तो यही उचित समझता हूं कि महाकवि कालिदास को विक्रमी संवत् के संस्थापक सम्राट् विक्रमादित्य का समकालीन ही माना जाय। इस मन्तव्य के पक्ष में जनश्रुति के अतिरिक्त साहित्य के पोषक प्रमाण भी विद्यमान हैं। केवल काल्पनिक युक्तियों के प्रहार से २००० वर्ष पुरानी ख्याति का दुर्ग नहीं तोड़ा जा सकता। यदि हम एक बार इस मार्ग पर चल पड़े, तो हमें अपने सम्पूर्ण प्राचीन इतिहास से हाथ धो देना पड़ेगा। हमारे मनु और मान्धाता, हमारे राम और कृष्ण, और हमारे वाल्मीकि और व्यास पोषक शिलालेखों और ताम्रपत्रों के अभाव के कारण अविश्वास की आंधी से उड़ जायंगे। इस कारण, अन्य किसी पुष्ट कल्पना के अभाव में, मैंने यही स्वीकार कर लिया है कि अब से २००६ वर्ष पूर्व, विक्रमादित्य नाम का एक प्रतापी सम्राट् भारत में राज्य करता था। उसने विदेशी आक्रमणकारियों पर विजय प्राप्त करके स्मारक रूप में विक्रमी संवत् की स्थापना की थी। महाकवि कालिदास उसी की सभा का एक रत्न था। जैसे उस आदि विक्रमादित्य के अनुकरण में अनेक भारतीय विजेताओं ने अपने नाम के साथ विक्रमादित्य की उपाधि जोड़कर अपना मान बढ़ाया, उसी प्रकार अनेक कवियों ने भी अपने को कालिदास नाम से विशेषित करके—

"एकोपि जीयते हन्त कालिदासो न केनचित्
शृंगारे ललितोद्गारे कालिदासत्रयी किमु ?"

(शृंगार रस और मधुर उक्तियों में एक कालिदास को जीतना ही कठिन है, फिर जब तीन कालिदास हों तो उनसे कौन पार पा सकता है ?)

इस प्रकार की उक्तियों को जन्म दिया।

[३]

कालिदास के समय का भारत

जब तक अत्यन्त पुष्ट प्रमाणों से कोई दूसरा मत सिद्ध नहीं हो जाता, तब तक इसी प्राचीन मत को प्रामाणिक मानना चाहिये कि रघुवंश आदि काव्यों और अभिज्ञान शाकुन्तल आदि नाटकों के निर्माता महाकवि कालिदास ने विक्रमी संवत् के संस्थापक महाराज विक्रमादित्य के राज्यकाल में अपनी अमरकृतियों की रचना की। यदि कालिदास ने अन्य अनेक उत्तरकालीन कवियों की भांति थोड़ी-सी भी आत्म-परिचय-सम्बन्धी बातें कह दी होतीं, तो आज कुछ महानुभावों को एक निश्चित विषय पर ऐसा संशयात्मा होने का अवसर न मिलता। परन्तु एक सन्तोष की बात भी है। महाकवि के काव्यों में कवि के समय का सीधा निर्देश न होते हुए भी, वह समय कैसा था, इस प्रश्न का उत्तर देने के लिये पर्याप्त सामग्री विद्यमान है। कालिदास के ग्रन्थों को पढ़िये तो आप उस समय के भावों की झलक ज्ञानचक्षुओं से देख सकते हैं। आप रघुवंश से उस समय की राजनीतिक भावनाओं, कुमारसम्भव से धार्मिक विचारों और मेघदूत से सामाजिक तथा भौगोलिक परिस्थितियों का एक स्पष्ट चित्र खेंच सकते हैं। तीनों नाटक मुख्य रूप से उस काल के राजाओं, राजपरिवारों और राजमहलों की

अवस्थाओं का प्रदर्शन करने के अतिरिक्त प्रसंगवश थोड़ा-बहुत जनता के जीवन को भी चित्रित करते हैं। अनेक प्रतिभा-सम्पन्न लेखकों ने कालिदास के ग्रन्थों की सहायता से उस समय के समाज का पूर्ण चित्र खेंचने का यत्न किया है। इस सारभूत प्रस्तावना में उसका दिग्दर्शन कराने का भी स्थान नहीं है। यहां तो मैं थोड़े से शब्दों में उस चित्र की केवल परिधि रेखाओं को ही खेंच सकता हूं, और वह भी इस रूप में कि उन्हें पढ़ने से मेरे मन पर विक्रम के समय की कैसी रूपरेखा खिंची है।

वह समय अत्यन्त समृद्धिशाली था। भारत के शासकों का आस पास के देशों पर आतंक था। देश के अन्दर शक्ति और विभूति का दौर-दौरा था। प्रजा संतुष्ट थी और राजभक्त थी। चोर और दस्यु भय खाते थे, और सामान्य नागरिक सुख से अपना जीवन व्यतीत करते थे। नगरों में विविध प्रकार की कलायें विकसित होती थीं और ग्रामों के निवासी अन्न उपजा कर देश को जीवन दान देते थे। कर रूप में केवल भूमि का षष्ठांश लिया जाता था, जिसका अधिकांश प्रजा पर ही व्यय कर दिया जाता था। शासकवर्ग अपने को प्रजा का रक्षक और सेवक मानते थे, और अत्याचार करने से भय खाते थे।

उस समय देश में भारतीय धर्म अपने पौराणिक रूप में प्रचलित था। बौद्ध धर्म क्षीण हो गया था, जैन धर्म भी परिमित क्षेत्र में ही जीवित था। प्राचीन आर्यधर्म पौराणिक कलेवर में लोकसम्मत था। प्रतीत होता है कि मुख्यता भगवान् के शङ्कररूप को दी जाती थी।

साहित्य और कला की दृष्टि से वह समय बहुत उन्नत था। उसे भारतीय साहित्य का स्वर्णीय युग कह सकते हैं। उस समय के साहित्योद्यान का सबसे उज्वल और चमत्कारी पुष्प तो स्वयं कालिदास ही था, परन्तु इतिहास बतलाता है कि कालिदास जैसा पुष्प साहित्योद्यान में कभी अकेला नहीं खिलता। वह पुष्पों और कुंजों से घिरा रहता है। भारत की ऐतिहासिक परम्परा भी हमें यही बतलाती है कि

वह समय कवियों, विद्वानों और कलाकारों की दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध था। 'संस्कारपूत' परिष्कृत और साधुभाषा का आदर किया जाता था, राजा से लेकर रंक तक साक्षर और विद्याप्रेमी होते थे, संस्कृत के नाटकों का बहुत प्रचार था, नाट्यकला और चित्रकला सार्वजनिक रूप से प्रचलित थीं। स्त्रियों को कला की शिक्षा विशेष रूप से दी जाती थी। 'प्रेक्षागृह' अर्थात् नाटक-घर को नगरी का आवश्यक अङ्ग माना जाता था।

कालिदास के काव्यों में चित्रकला के निर्देश इतनी बहुतायत से मिलते हैं कि उनसे जहां एक ओर कालिदास के कलाप्रेम का परिचय मिलता है वहां उस समय का कलासम्बन्धी गौरव भी प्रकट होता है। दृश्यों, व्यक्तियों और पशु-पक्षियों के चित्रों की चर्चा स्थान स्थान पर आई है। चित्रकला में ऐसे प्राकृतिक दृश्यों के चित्रण को सबसे अधिक कठिन और महत्वपूर्ण समझा जाता है जिसमें विस्तृत भूमि भाग पर पर्वत आकाश मनुष्य और पशु-पक्षियों पर प्रकाश और अन्धकार के सूक्ष्म प्रभावों को दिखाया गया हो। कालिदास के काव्यों से प्रमाणित होता है कि कला की वह शाखा भी उस समय अत्यन्त उन्नत दशा तक पहुँची हुई थी।

मूर्तिकला तो उस समय की विशेषता ही थी। देवी देवताओं, मनुष्यों और पशु-पक्षियों की भावपूर्ण मूर्तियों के जो गुप्तकालीन अवशेष मिलते हैं, वे विक्रमकालीन परम्परा के अङ्ग हैं। कालिदास के काव्यों में मूर्तिकला के अनेक निर्देश मिलते हैं

कालिदास के ग्रन्थों में शिल्पी, शिल्पसंघ आदि के निर्देशों के अतिरिक्त घरों और नगरों के द्वारों और पक्षकों के, राजपथ और विपणियों के जो सांगोपांग वर्णन मिलते हैं, वह ऊंचे दर्जे की शिल्पकला को सूचित करते हैं।

कालिदास के काव्यों के अध्ययन से, मन पर उस समय की समृद्धि और ऐश्वर्य का जो प्रभाव पड़ता है, वह इतना गहरा है कि कभी कभी आशंका होने लगती है कि कहीं वह केवल काल्पनिक ही तो नहीं। परन्तु जब हम उस समय के सब ऐतिहासिक अवशेषों की परीक्षा करके देखते हैं तो वह विचार जो महाकवि के काव्यों के अध्ययन से बना था, पुष्ट हो जाता है। उस समय देश की सर्वतोमुखी विभूति अपने पूर्ण यौवन पर थी, प्रजा सुखी और समृद्ध थी, शासक कर्त्तव्य परायण और श्रीमान् थे, देश के बल-पराक्रम का आसपास के देशों पर आतंक था, जिसके फलस्वरूप बहुमूल्य उपहार चारों ओर से बरसते रहते थे। देश में सुख था, शान्ति थी और सुराज्य था।

[४]

सम्राट् रघु

यह ठीक है कि हम सम्राट् रघु को मुख्य रूपसे महाराज रामचन्द्र के पूर्वपुरुष के रूपमें जानते हैं, परन्तु यह भी सत्य है कि महाराज राम राघव (रघु के वंशज) होने में गौरव का अनुभव करते थे। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि महाराज रघु का अपना व्यक्तित्व भी बहुत महान् और असाधारण था। तभी तो वे काकुत्स्थ वंश के यश को चार चांद लगाने वाले रघुवंश के संस्थापक माने गये।

महाकवि कालिदास ने रघु को एक आदर्श राजा के रूपमें चित्रित किया है। रघु और राम में यह भेद है कि जहां रघु एक आदर्श शासक है, वहां राम एक आदर्श पुरुष है। आदर्श पुरुष का पद केवल आदर्श शासक से बहुत ऊंचा है, इस दृष्टि से हम राम को रघु से बड़ा मान सकते हैं, परन्तु एक क्षत्रिय को और राजा को जैसा होना चाहिये, उसका सर्वांग सम्पूर्ण नमूना देखना हो तो हमें कालिदास द्वारा वर्णित सम्राट् रघु का अध्ययन और मनन करना चाहिये।

महाकवि के वर्णन को पढ़ कर हमारे मन पर सम्राट् रघु के जीवन का जो चित्र खिंचता है, वह कुछ ऐसा है। रघु अत्यन्त मंगलमय समय

में उत्पन्न हुआ। उसकी उत्पत्ति के समय प्रकृति मानो खिल उठी थी। रघु शब्द का अर्थ है, गतिशील। पिता ने बालक का रघु नाम इस आशय से रखा कि बालक विद्याओं के समुद्र को पार करे और शत्रुओं के सिरों पर पांव रखे। ज्यों-ज्यों रघु बड़ा होने लगा उसके ऐसे ही लक्षण भी उद्भूत होने लगे। जैसे सूर्य की किरणें समस्त आकाश को पार कर जाती हैं उसी प्रकार रघु की बुद्धि भी चारों विद्याओं को पार कर गई। जब रघु ने ब्रह्मचारी के योग्य मृगछाल धारण करके, पृथ्वी के अद्वितीय योद्धा अपने पिता से शस्त्रविद्या की शिक्षा ग्रहण की, तो उसके लोकोत्तर योद्धा बनने में संदेह ही क्या था? उसके शरीर का उठान दिलीप से भी अधिक ओजस्वी हो गया, तो भी वह गुरुओं के सामने सदा झुका रहता था। शुभ लक्षण देख कर, शुभ मुहूर्त में पिता ने रघु को युवराज के पद पर अभिषिक्त कर दिया। रघु ने भी युवराज के कर्तव्यों का इतनी सुन्दरता से पालन किया कि वह सदा के लिए पृथ्वी के युवराजों के लिये आदर्श बन गया। दिलीप ने ९९ अश्वमेध यज्ञ किये, जिनमें यज्ञ के अश्व की रक्षा का कार्य रघु करता रहा। उसने अपने कार्य को इतनी तत्परता वीरता और यशस्विता के साथ किया कि सौवें यज्ञ की पूर्ति में विघ्न डालने की इच्छा रखने वाले देवताओं के राजा इन्द्र को भी उसकी वीरता और शिष्टता का सिक्का मानना पड़ा, जिससे दिलीप को सौ यज्ञों का पुण्य प्राप्त हो गया।

इस प्रकार, अपने जीवन में पूर्ण सफलता प्राप्त करके इक्ष्वाकुओं की कुलप्रथा के अनुसार दिलीप ने रघु को सिंहासन पर बिठा दिया, और स्वयं पत्नी सहित वानप्रस्थ आश्रम ग्रहण करके तपोवन में रहने लगे।

सिंहासनारूढ होकर रघु ने अपने कुल के यश को सौगुना कर दिया। प्रजायें प्रसन्न हो उठीं और शत्रुओं के हृदय कांप गये। देश में सुख और शान्ति का राज्य हो गया। लक्ष्मी और सरस्वती दोनों उसकी सेवा के लिये मानो प्रतिस्पर्धा करने लगीं। वह स्वयं बहुत बुद्धिमान् था,

साथ ही बुद्धिमान् और हितैषी मन्त्रियों से परामर्श लेता था, इस कारण उसके सभी कार्य सफल हो जाते थे। उसके शासनकाल में इक्ष्वाकु वंश की ख्याति दिग्दिगन्त में व्याप्त हो गई। एक ओर खेतों की रखवाली करने वाली शालिगोपियां, ईख की घनी छाया में बैठकर उसका यशोगान करती थीं, तो दूसरी ओर देशदेशान्तरों के नृपतिगण उसके ऐश्वर्य और प्रताप की चर्चा करते थे।

अपने देश और कुल की प्रथा के अनुसार चक्रवर्ती राज्य की दृढ़ता के लिए रघु ने दिग्विजय करने का निश्चय किया और अनुकूल समय देखकर, शीत ऋतु के आरम्भ में, चतुरङ्गिणी सेना के साथ पहले पूर्व दिशा के विजय के लिये प्रस्थान किया। वह और उसकी सेनायें जिधर निकल जातीं थीं, उधर ही शत्रुओं के मस्तक झुक जाते थे। जो मस्तक झुकने से इन्कार करते थे वह धड़ से अलग कर दिये जाते थे। रघु पूर्व के राजाओं को जीत कर पूर्व समुद्र के तट तक पहुँच गया, और वहां से दक्षिण की ओर झुका। दक्षिण के राजाओं पर प्रभुत्व स्थापित करके पश्चिम और फिर उत्तर की सीमाओं तक चक्रवर्ती राज्य की ध्वजा फहराता हुआ दिलीपसूनु राजाओं के छत्रशून्य मस्तकों पर पांव रखकर अपनी राजधानी को लौट आया। वहां पहुँच कर उसने इक्ष्वाकु कुल की मर्यादा के अनुसार विश्वजित् यज्ञ किया और यज्ञ के अन्त में शास्त्र विधि का पालन करते हुए अपना सर्वस्व अभ्यर्थियों और निर्धनों में वितीर्ण कर दिया।

जिस समय रघु सर्वस्व दान करके बरसे हुए मेघ की भांति यशःपूर्ण रिक्तता से प्रदीप्त हो रहा था, उस समय वरतन्तु आचार्य का शिष्य कौत्स गुरु दक्षिणा की १४ करोड़ मुद्राओं की खोज में राजधानी में आ पहुँचा। राजा सर्वजित् यज्ञ को समाप्ति पर सर्वस्वदान कर चुका था, सोने चांदी के बर्तन भी निर्धनों को दिये जा चुके थे, फलतः कौत्स का पाद्य और अर्घ्य मिट्टी के पात्र से ही सम्पन्न हुआ। कौत्स उससे राजा की आर्थिक परिस्थिति को समझकर उदास हो गया और जब राजा ने

स्नातक से आने का कारण पूछा तो उसने जो उत्तर दिया उससे निराशा झलकती थी। कौत्स खाली हाथ जाने को उद्यत होगया तो राजा के दिल पर चोट लगी। रघु के द्वार पर आया हुआ अर्थी खाली चला जाय, यह बात उसे सह्य नहीं हुई। उसने कौत्स से दो तीन दिन तक अग्निशाला में विश्राम करने की प्रार्थना की, और स्वयं कुबेर पर चढ़ाई करके अभीष्ट धन प्राप्त करने के लिये रथ को शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित कर लिया। प्रातःकाल कुबेर के विरुद्ध विजय यात्रा करने की इच्छा से राजा रघु रथ में ही सोया। प्रातःकाल जब यात्रा प्रारम्भ करने का समय आया तब राजकोष के प्रहरियों ने सूचना दी कि रात के समय कोष में अपरिमित स्वर्णराशि की वर्षा हो गई है। प्रातःकाल तक राजकोष भर गया, जिससे कौत्स को उसकी आवश्यकता से भी अधिक धन मिल गया। रघु ने सौ ऊंटों और घोड़ों पर सोना लाद कर गुरु दक्षिणा देने के लिये कौत्स को आदर सहित विदा कर दिया।

गुरु के प्रसन्न होने से रघु को जो वर प्राप्त हुआ, उसके प्रभाव से शुभ घड़ी में महारानी की गोद शीघ्र ही हरी हो गई। उसके पुत्र रत्न उत्पन्न हुआ, जिसका नाम अज रखा गया। अज सुयोग्य पिता का योग्य पुत्र था, मानो प्रदीप से प्रदीप प्रज्वलित हुआ हो।

अज के युवा हो जाने पर पिता ने उसे विदर्भ देश के राजा की पुत्री के स्वयंवर में जाकर रूप और शौर्य के अनुरूप कन्यारत्न की प्राप्ति के लिए प्रेरित किया। स्वयंवर में अनेक यशस्वी राजा और राजकुमार आये थे। राजकुमारी इन्दुमती ने उन सब में उत्कृष्ट मान कर राजकुमार अज के गले में जयमाल पहिनाई। असफल नरेशों ने क्रोध के वशीभूत होकर अज पर सम्मिलित आक्रमण किया, परन्तु वे इन्दुमती को न छीन सके! राजकुमार उन सबको परास्त करके विजयी सेनापति की भांति पिता की राजधानी में प्रविष्ट हुआ।

विवाह के पश्चात् सम्राट् ने राजकुमार अज को इक्ष्वाकु वंश की कुल-प्रथा के अनुसार अयोध्या के सिंहासन पर बिठा दिया, और स्वयं

वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश करके अरण्य में रहने लगे। इस प्रकार रघु ने इक्ष्वाकु वंश की उस पद्धति का पूर्णरूप से पालन किया, जिसका कालिदास ने निम्नलिखित श्लोक में वर्णन किया है—

शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम्
वार्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम् ॥

रघु ने बाल्यावस्था में तपश्चर्यापूर्वक सब विद्याओं और कलाओं का अध्ययन किया, यौवन में न्यायपूर्ण चक्रवर्ती राज्य की स्थापना की, बुढ़ापे में विषयों से निवृत्त होकर तपोमय जीवन व्यतीत किया और अन्त में कृतकृत्य होकर प्रशान्त चित्त से स्वर्लोक को प्रस्थान किया।

[५]

रघुवंश का लक्ष्यबिन्दु

प्रत्येक महती रचना का कोई न कोई लक्ष्यबिन्दु होता है। जिस रचना का कोई लक्ष्यबिन्दु न हो तो वह महती नहीं कहला सकती। रचना भौतिक हो या आध्यात्मिक, उसका लक्ष्यबिन्दु तो होना ही चाहिये। कुछ लोग कला के लिए कला और जीने के लिये जीने की कल्पना का समर्थन करते हुए समझते हैं कि हमने एक बहुत अनूठी और अनमोल कल्पना की है। वस्तुतः वह असम्भव की कल्पना है। यह ठीक है कि भोजन भूख को मिटाने के लिये किया जाता है, परन्तु भोज्य वस्तु क्या हो, और कैसे खाई जाय, इसका निश्चय भोजन करने वाले के दृष्टिकोण या लक्ष्यबिन्दु के अनुसार होता है। जो मनुष्य शरीर की रक्षा और स्वास्थ्य के लिये भोजन करता है, उसके भोजन में और जो मनुष्य स्वाद के लिये खाता है उसके भोजन में बहुत भारी अन्तर रहता है। लक्ष्य-बिन्दु से रचना में भेद आना अवश्यम्भावी है।

ऊंचे दर्जे की साहित्यिक रचनाओं का कोई न कोई लक्ष्य बिन्दु अवश्य होता है। काव्य अनेक उद्देश्यों से लिखा जाता है—

काव्यं यशसे ऽर्थकृते
कान्तासम्मिततयोपदेश युजे

काव्य की रचना यश के लिये हो सकती है, धन के लिए और मधुरतापूर्वक उपदेश देने के लिये भी सम्भव है। और इनमें से दो और तीन के मिश्रण से भी हो सकती है। यह तो स्पष्ट है कि जो काव्य केवल धन या केवल यश के लिये लिखा जायगा, वह उस ऊंचाई तक नहीं पहुंच सकता, जिस ऊंचाई तक वह पहुँचेगा जिसका लक्ष्य लोक कल्याण है। संसार की जितनी महती साहित्यिक रचनायें हैं, उनमें काव्योपयोगी सब गुणों के अतिरिक्त यह गुण भी आवश्यक रूपसे उपलब्ध होता है कि उनमें मनुष्यों के लिए एक सन्देश होता है। सन्देश से हीन साहित्य महान नहीं हो सकता। उस सन्देश को ही मैं काव्य का लक्ष्यबिन्दु कहता हूं।

रामायण सत्य की जीत और असत्य की हार का सन्देश देती है। महाभारत से संसार को यह शिक्षा मिलती है कि भाई-भाई के द्वेष और युद्ध के कारण समृद्ध से समृद्ध राष्ट्र भी समूल नष्ट हो सकता है। होमर के ईलियड से संसार को यह शिक्षा मिलती है कि जाति का एक प्रमुख व्यक्ति यदि कोई भारी अपराध करे तो सम्पूर्ण जाति को उसके बुरे फल भुगतने पड़ते हैं। इसी प्रकार कालिदास के रघु वंश का भी एक सन्देश है, जिसने उसे साहित्य में इतना ऊंचा स्थान प्राप्त कराया है। उसे मैं रघुवंश का लक्ष्यबिन्दु कहता हूं। रघुवंश में कालिदास ने रघुवंश रूपी सूर्य के उदय और अस्त की गाथा गाई है। महाराज दिलीप ने गुरु वसिष्ठ के आदेशानुसार जो तपश्चर्या की, उसका फल प्रतापी रघु के रूपमें प्रकट हुआ। दिलीप ने इक्ष्वाकु-कुल की पद्धति के अनुसार सौ यज्ञ किये, चिरकाल प्रजा का पालन किया और वृद्धा-

वस्था आने पर रघु के कन्धों पर राज्य-भार डाल कर अरण्य का आश्रय लिया।

रघु ने अपने प्रताप से पिता के प्रताप का भी अतिक्रमण कर दिया। उसने दिग्विजय करके चक्रवर्ती राज्य की स्थापना की। चक्रवर्ती राजा होने के कारण वह सम्राट् पद का अधिकारी बन गया।

रघु का पुत्र अज भी परम प्रतापी राजा था, दशरथ भी उसके अनुरूप ही हुआ। रघु वंश के राजा विद्वान्, धार्मिक और प्रतापी होने के कारण वंश के यश और प्रभाव को दिगन्त-व्यापी बनाने में समर्थ हुए।

राम तो असाधारण महापुरुष था। उसका स्थान न केवल रघुकुल में और न केवल भारतवर्ष में, अपितु सारे संसार में अद्वितीय है। उसके उज्ज्वल चरित्र ने सम्राट् रघु के कुल की कीर्ति को अमर कर दिया।

राम के पीछे राज्य की बागडोर कुश-लव और उनके ६ अन्य भाइयों के हाथों में आई। वे भी वीर थे, परन्तु उनमें वह विशालता न थी जो उनसे पूर्व के रघुवंशी राजाओं में विद्यमान थी। वहां से हम रघुवंश के गौरव को क्षीणता की ओर जाता देखते हैं। सब मानवी संस्थाओं और साम्राज्यों के अभ्युदय और क्षय के जो सामान्य नियम हैं उनके अनुसार मध्याह्न तक पहुंच कर राघव कुल का सूर्य भी अस्ताचल की ओर झुकने लगा।

कालिदास ने जिस सुन्दरता और विशदता से काव्य के पूर्व-भाग में रघुकुल के अभ्युदय का वर्णन किया है, उत्तर-भाग में भी उसी सुन्दरता और विशदता से क्षय की ओर प्रवृत्ति का वर्णन किया है। राम के पश्चात् राघवों के राज्य में जो पहला परिवर्तन हुआ वह यह था कि उसके एक के स्थान पर अनेक केन्द्र बन गये। कुश कुशावती में प्रतिष्ठापित हुआ, लव का शासन-केन्द्र शरावती में बना। राम ने सिन्धु देश का राज्य अपने भाई भरत को दे दिया था। भरत ने गान्धर्वों को

परास्त करके राज्य को निष्कण्टक कर दिया, और अपने पुत्र पुष्कल को पुष्कलावती में और तक्ष को तक्षशिला में अभिषिक्त कर दिया। लक्ष्मण ने अपने अङ्गद और चन्द्रकेतु नाम के पुत्रों को कारापथ नामक प्रदेश का शासक बना दिया। इस प्रकार महाराज राम के देह-त्याग के साथ ही रघु द्वारा प्रतिष्ठापित विशाल साम्राज्य अनेक टुकड़े होकर बिखर गया। परिणाम यह हुआ कि वह राघवों की पुरी अयोध्या, जिस पर सम्पूर्ण राष्ट्र को अभिमान था, थोड़े ही समय में उजड़ कर खंडहरों का ढेर बन गई।

काकुत्स्थ वंश की लाडली अयोध्या के उजड़ने और फिर से बसने की कहानी का वर्णन करने में कालिदास ने अपनी प्रतिभा का पूरा प्रयोग कर दिया है। जीर्ण वस्त्रों वाली धूलिधूसरित अयोध्या स्वप्न में कुश को दर्शन देकर अपनी कथा सुनाती है। कुश का हृदय उससे पसीज जाता है और वह राजधानी को कुशावती से उठा कर फिर अयोध्या में ले जाता है; इस प्रकार कुश अपनी भूल का सुधार कर लेता है, परन्तु साम्राज्य को राजधानी के उजड़ने से जो धक्का पहुंच चुका था, उसके प्रभाव को दूर नहीं कर सकता। अयोध्या की आभा उसी प्रकार उतर चुकी थी, जैसे एक सती साध्वी स्त्री की आभा पति द्वारा एक बार परित्याग करके फिर से ग्रहण करने से उतर जाती है।

कालिदास ने रघुवंश के अन्तिम दो सर्गों में कुश के २४ उत्तराधिकारियों का उल्लेख किया है। उनमें से कुश के पुत्र अतिथि को छोड़कर अन्य कोई भी ऐसा नहीं था, जिसके विषय में कवि को दो-चार से अधिक श्लोक कहने पड़े हों। वे सब सामान्य राजा थे। नल यौवन में ही राज्य का बोझ पुत्र के कन्धों पर डाल कर वैरागी हो गया। पारियात्र अत्यन्त भोग के कारण असमय में मर गया। ध्रुवसंधि को शिकार का बहुत व्यसन था, वह शेर के हाथों मारा गया। उसका पुत्र अभी १६ वें वर्ष में ही था। मन्त्रियों ने देश को अराजकता की आपत्ति से बचाने के लिये बालक सुदर्शन को ही सिंहासनारूढ़ कर दिया। सुदर्शन

बाल्यावस्था में ही अपने महान् पूर्वजों के सिंहासन पर आरूढ़ हो गया। यद्यपि उसकी आयु और शिक्षा अधूरी थी, तो भी कुल के प्रौढ़ संस्कारों के कारण उसने राज्य के भारी बोझ को भली-प्रकार उठा लिया। इस विशेषता के कारण महाकवि ने उसे विशेष सम्मान का पद प्रदान किया है—रघुवंश में उसके सम्बन्ध में १९ पद्य हैं।

सुदर्शन का राज्य-काल सामान्य रूप से सुखी और समृद्ध रहा प्रतीत होता है। जीवन के अन्तिम दिनों में राघवों की कुल-प्रथा का पालन करते हुए उसने भी युवराज अग्निवर्ण का राज्याभिषेक कर दिया और स्वयं अरण्य का आश्रय लिया।

राम के पीछे कुश, और कुश के पीछे अतिथि—इन तीनों नामों को बींधती हुई यदि एक रेखा खींची जाय तो वह पर्याप्त झुकती हुई प्रतीत होगी। रेखा का वह झुकाव उनकी उत्तरवर्ती सन्ततियों में जारी रहा—वह झुकाव यहां तक पहुँचा कि जिस वंश का संस्थापक भगवान् के अनुचर कुम्भोदर सिंह के सामने खड़ा होकर भी विचलित नहीं हुआ था, उस वंश का एक राजा शिकार के प्रसंग में, सामान्य शेर का शिकार बन गया। स्पष्ट है कि रघुकुल की वह गौरव रेखा, जो रघु और राम के कारण सूर्यमण्डल को छू रही थी, वह कालान्तर में झुकती-झुकती पृथ्वी को छूने लगी थी!

ध्रुवसंधि और सुदर्शन के समय में जो रेखा पृथ्वी को छू रही थी, सुदर्शन के अयोग्य पुत्र अग्निवर्ण के समय में वह गहरे गर्त में प्रविष्ट हो गई। अग्निवर्ण सुन्दर भी था और वीर भी, परन्तु उसमें रघु के वंश के योग्य चरित्रबल नहीं था। कुछ समय तक तो उसने शासन-कार्य में ध्यान दिया, पर शीघ्र ही उस पर प्रमाद छा गया। कवि कहता है —

सोऽधिकारमभिकः कुलोचितम्
काश्चन स्वयमवर्तयत्समाः।
सन्निवेश्य सचिवेष्वतः परम्
स्त्रीविधेय-नवयौवनोऽभवत् ॥

कुछ समय तक तो अग्निवर्ण ने अपने वंश के योग्य कुशलता से राज्य का संचालन किया, उसके पश्चात् उसे कामुकता ने दबा लिया और राज्य का कार्य मन्त्रियों पर डाल उसने अपना यौवन स्त्रियों के अर्पण कर दिया।

जब कृषक खेत की रक्षा छोड़ कर विषय-भोग में पड़ जाय तो जैसे जंगली पशु खेत को खा जाते हैं राजा के कर्तव्यच्युत होने पर राष्ट्र की भी वैसी ही दशा हो जाती है; राजा तो नष्ट हो ही जाता है। अग्निवर्ण के पतन ने उसके राज्य को भी दुर्दशाग्रस्त कर दिया। उसकी अपनी गति तो वही हुई, जो विषयलम्पट व्यक्तियों की हुआ करती है। कवि ने उसका वर्णन निम्नलिखित पद्य में किया है—

तस्य पाण्डुवदनाल्पभूषणा।
सावलम्बगमना मृदुस्वना।
राजयक्ष्मपरिहानिराययौ।
कायमानसमवस्थया तुलाम्॥

उसे राजयक्ष्मा रोग ने ग्रस लिया, इस समाचार से राज्य-भवन में मुर्दनी छा गई। राजा के कोई सन्तान नहीं थी। मंत्रियों ने कुछ समय तक प्रजाजनों को यह कह कर आश्वासन देने का यत्न किया कि राजा पुत्र की प्राप्ति के लिए जपादि कर रहा है, परन्तु मिथ्या आश्वासन कब तक चल सकता था? एक ओर रोग और दूसरी ओर सन्तान के अभाव की चिन्ता—दोनों ने अग्निवर्ण को अकाल में ही मृत्यु का ग्रास बना दिया। वह राघवों के राजसिंहासन को उत्तराधिकारी से शून्य छोड़ कर संसार से विदा हो गया।

इस प्रकार जो यशस्वी वंश दिलीप की तपस्या, रघु के पराक्रम और राम के लोकोत्तर व्यक्तित्व के कारण मध्याह्न के सूर्य की भांति दशों दिशाओं में देदीप्यमान हो गया था, वह ध्रुवसंधि जैसे व्यसनी और अग्निवर्ण जैसे विषयलम्पट उत्तराधिकारियों के प्रभाव से अस्ता-

चलोन्मुख होकर अन्तरिक्ष में विलुप्त हो गया। यही संसार के शासकों के लिए महाकवि कालिदास का अमर सन्देश है।

कालिदास विक्रमादित्य का समकालीन था। वह विक्रमादित्य किस शताब्दी का विक्रमादित्य था? उसका नाम केवल विक्रमादित्य था अथवा वह चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य अथवा कुमारगुप्त विक्रमादित्य था?—इन प्रश्नों की उलझन में न पड़ कर भी इतिहास का विद्यार्थी इस परिणाम पर पहुंच सकता है कि रघुवंश के निर्माता महाकवि कालिदास ने अपना काव्य जिस समय लिखा, उस समय भारत पर विक्रमादित्य पदवी-धारी एक प्रतापी राजा राज्य करता था। कालिदास उस राजा का सम्मानित राजकवि था। यह कोई असम्भव बात नहीं कि कालिदास ने अपने मित्र और संरक्षक विक्रमादित्य और उसके वंशजों को शिक्षा और चेतावनी देने के लिए रघुवंश महाकाव्य की रचना की हो। रघुवंश के पाठ से महान् से महान् शासक और प्रतापी से प्रतापी विजेता भी शिक्षा ग्रहण कर सकता है। राज्यों और राजवंशों के भवन तपस्या, सेवा-भाव और वीरता की नींव पर खड़े होते हैं और प्रमाद, लम्पटता और कायरता के आघातों से जर्जरित होकर नष्ट हो जाते हैं—रघुवंश के पाठ से हमें यही सन्देश प्राप्त होता है।

दिल्ली

१५ दिसम्बर १९५०

———



पहला सर्ग

तपोवन की यात्रा

रघुवंश के संस्थापक यशस्वी रघु के पिता महाराजा दिलीप ने, पृथ्वी के सबसे प्रथम सम्राट् वैवस्वत मनु के उज्ज्वल वंश में जन्म लिया था। दिलीप बहुत बलवान् और तेजस्वी राजा था, मानो साक्षात् क्षात्र-धर्म का अवतार हो। वह जैसा बलवान् था, वैसा ही बुद्धिमान्, विद्वान् और कर्मशील था। प्रजा उसे पिता के समान मानती थी। विरोधी और आततायी उसके दंड से डरते थे। समुद्र रूपी खाई से घिरे हुए पृथ्वी रूपी किले का वह इस सुगमता से शासन करता था, मानो एक नगरी का शासन कर रहा हो।

जैसे यज्ञ की संगिनी दक्षिणा है, उसी प्रकार राजा दिलीप के साथ अटूट सम्बन्ध से बंधी हुई रानी सुदक्षिणा थी, जिसने मगध वंश

में जन्म लिया था। राजा को अन्य सब सुख थे, केवल सन्तान का सुख नहीं था। सन्तान की प्राप्ति के लिए अनुष्ठान करने का विचार करके राजा ने राज्य की देखरेख का भार मंत्रियों के कन्धों पर डाल दिया और महारानी को साथ ले गुरु वसिष्ठ के आश्रम की ओर प्रयाण किया। उस शानदार रथ में बैठे हुए राजा और रानी ऐसे शोभायमान हो रहे थे, जैसे घने सावन के बादल में बिजली और बरसाती पवन* शोभा पाते हैं। उनकी आश्रम-यात्रा बहुत ही मनोरंजक और मंगल-सूचक रही। फूलों के पराग को चारों दिशाओं में बखेरने वाला, साल के रस से सुगन्धित सुखकारी वायु उनकी सेवा कर रहा था। मोरों की षड्ज के सदृश स्वर वाली केकायें उनके कानों को आनन्दित कर रही थीं और हरिणों के जोड़े रास्ते के समीप ही खड़े होकर उनकी ओर निहार रहे थे। उन हरिणों की आंखों में राजा और रानी एक दूसरे की आंखों की छवि देखकर प्रसन्न होरहे थे। मार्ग में अहीर बस्तियों के जो मुखिया लोग ताजे मक्खन की भेंट लेकर उपस्थित होते थे, उनसे वह दोनों जंगली वनस्पतियों के नाम पूछते थे। इस प्रकार मार्ग के सुन्दर दृश्य देखते हुए महारानी सुदक्षिणा और महाराजा दिलीप दिन छिपने के समय महर्षि वसिष्ठ के आश्रम में पहुंच गये।

वसिष्ठ मुनि के आश्रम में उस समय सन्ध्याकाल की चहल-पहल थी। तपस्वी लोग समिधा, कुश और फल इकट्ठे करके जंगल से लौट रहे थे; ऋषि-पत्नियों द्वारा बखेरे हुए अन्न से खिंचे

---

* कालिदास की उक्ति है "प्रावृषेण्यं पयोवाहं विद्युदैरावताविव" यहां ऐरावत का अनुवाद मैंने बरसाती पवन किया है। मल्लिनाथ ने ऐरावत की व्युत्पत्ति यह की है—इरावान् समुद्रः, तत्रभवः ऐरावतः। बरसाती पवन (मान्सून) समुद्र में उत्पन्न होता है, इन्द्र वाहन है और बिजली का साथी।

हुए मृगों की टोलियां कुटियों के दरवाजे पर इकट्ठी हो रही थीं, मुनि-कन्यायें आश्रम-वृक्षों को सींच कर दूर हट गई थीं, ताकि पक्षी निर्भय होकर थामलों में से पानी पी सकें, और होम से उठा हुआ धुआं बाहिर से आने वाले अतिथियों को पवित्र कर रहा था।

आश्रम में पहुंचने पर राजा दिलीप ने सारथी को आज्ञा दी कि घोड़ों को आराम दो। वह स्वयं रथ से उतर गये और फिर रानी को उतार लिया। सभ्यता के नियमों से परिचित तपस्वी लोगों ने सपत्नीक राजा का यथोचित आदर-सत्कार किया। जब ऋषि वसिष्ठ सायंकाल के सन्ध्योपासन से निवृत्त हो गये, तब राजा और रानी उनकी सेवा में उपस्थित हुए। ऋषि के समीप उस समय उनकी पत्नी अरुन्धती विराजमान थीं, मानो स्वाहा यज्ञ की अग्नि के समीप विराज रही हों। राजा और राजपत्नी ने ऋषियुगल के चरणों में झुक कर प्रणाम किया। ऋषियुगल ने उन्हें आशीर्वाद दिया।

ऋषि को जब यह सन्तोष हो गया कि अतिथि-पूजा से राजयुगल की थकान उतर गयी है, तब उन्होंने राज्य के कुशल-क्षेम के सम्बन्ध में प्रश्न किये। राजा ने उत्तर दिया—"हे गुरो, आपके प्रसाद से राज्य में सब कुशल है। आपके मन्त्रबल ने मेरे तीरों को अन्यथा-सिद्ध सा कर दिया है। आपके यज्ञों में, अग्निकुण्ड में डाला हुआ हवि मेघों से जल बन कर बरस जाता है, जिससे सदा सुभिक्ष बना रहता है। मेरी प्रजा सौ साल तक जीती है और निर्भय होकर रहती है, यह आपके ब्रह्मतेज का ही फल है। यह सब कुछ होते हुए भी, हे गुरुवर, रत्नों के पैदा करने वाली यह द्वीप सहित भूमि मेरे मन को संतुष्ट नहीं कर सकती, क्योंकि आपकी इस बहू की गोद सन्तान रूपी रत्न से शून्य है। भविष्य में कुल की लता को कटता देख कर मेरे पूर्व-पुरुष अवश्य ही परम दुःखी होते होंगे, और मेरी अर्पित जलाञ्जलि उनके मुख में जाने से पूर्व चिन्ता

के निश्वासों से कुछ गर्म हो जाती होगी। जैसे अनिर्वाण (स्नान रहित) हाथी को, चुभने वाला खूंटा कष्ट देता है, सन्तान न होने से पितृ-ऋण का सन्ताप मुझे उसी प्रकार तपा रहा है। हे तात, जिस विधि से मैं पितृ-ऋण से मुक्त हो सकूं, वह कीजिये। इच्वाकु वंश के लोग प्रत्येक कठिनाई की नदी को आपके विधान से ही पार करते रहे हैं।"

राजा के वचन सुन ऋषि चणेक आंखें मूंद कर ध्यान में मग्न रहे, मानो किसी तालाब में सब मछलियां सो गयी हों। ध्यानावस्था में ऋषि ने जो कुछ देखा, वह राजा को बतलाते हुए कहा—

"हे राजन्! एक बार देवराज इन्द्र से मिल कर जब तुम स्वर्ग से पृथ्वी की ओर आ रहे थे, तब सुरभि गौ कल्पतरु की छाया में विश्राम कर रही थी। रानी ऋतुस्नाता है, इस विचार से तुम घर आने की जल्दी में थे, और पूजा के योग्य सुरभि की उपेक्षा करके चले आये। सुरभि ने इस तिरस्कार से रुष्ट होकर तुम्हें शाप दिया कि जब तक तुम मेरी सन्तान की आराधना न करोगे, तब तक तुम्हारे सन्तान न होगी। आकाश-गंगा के ठांठें मारते हुए जल-प्रवाह में दिग्गज स्नान कर रहे थे, जिनके शोर के कारण सुरभि का शाप न तुमने सुना और न तुम्हारे सारथी ने। जो पूजा के योग्य हैं, उनका तिरस्कार करने से मनुष्य के सुखों का द्वार बन्द हो जाता है; तुम्हारी इच्छाओं के द्वार की सांकल बन्द होने का भी यही कारण हुआ। सुरभि आजकल प्राचेतस् के यज्ञ के निमित्त से पाताल में गई है, उसकी पुत्री हमारे इस आश्रम में विद्यमान है। तुम और तुम्हारी पत्नी सेवा से उसे संतुष्ट करो, तुम्हारी इच्छा अवश्य पूर्ण होगी।"

ऋषि के वाक्य अभी समाप्त भी न हुए थे कि वन से लौटती हुई, नन्दिनी नाम की निन्दारहित गौ (सुरभि की पुत्री) सामने आ गई।

नन्दिनी का रंग नई कोंपल के समान चिकना और लालिमा लिए हुआ था। उसके माथे पर सफेद रोएं का टीका ऐसे शोभायमान हो रहा था, जैसे सन्ध्याकाल के आकाश पर चन्द्रमा। बछड़े को देख कर स्वयं टपकने वाले पावन दूध की धार से वह कुण्डोध्नी पृथ्वी को पवित्र कर रही थी। उसके खुरों से उठने वाले रज के रेणुओं में स्नान करके राजा ने मानों तीर्थस्नान कर लिया। ऋषि ने नन्दिनी के उस समय के दर्शन को मनोरथ-सिद्धि के लिए कल्याणकारी जान कर राजा से कहा—

"हे राजन्, नाम लेते ही यह कल्याणी सामने आगई, इससे तुम अपना मनोरथ पूरा हुआ मानो। जैसे विद्या को अभ्यास से प्रसन्न किया जाता है, इसी प्रकार वनवासियों का सा रहन-सहन करके निरन्तर सेवा द्वारा नन्दिनी को प्रसन्न करो। इसके चलने पर चलो, ठहरने पर ठहरो, बैठने पर बैठो और जल पीने पर जल पियो। बहू को भी चाहिए कि इसको पूजा करे, वन जाने के समय कुछ कदम तक छोड़ने जाय और वापिस आने पर कुछ कदम आगे बढ़ कर स्वागत करे। जब तक यह प्रसन्न न हो, तब तक हे राजन्, तुम इसकी सेवा करो। तुम्हारी इच्छा पूर्ण होगी और तुम्हारा कुल अविच्छिन्न रहेगा।"

राजा ने सिर झुकाकर गुरु के आदेश को स्वीकार किया। इस बातचीत में रात हो गई थी। मधुर सत्य बोलने वाले उस ऋषि ने प्रजाओं के पालक दिलीप को सोने की आज्ञा देते हुए ऐसा प्रबन्ध कर दिया कि राजा का रहन-सहन वनवासियों के सदृश हो जाय। राजा और रानी, कुलपति द्वारा बतलाये हुए झोंपड़े में कुशों की सेज पर रात भर सोये। प्रातःकाल होने पर आश्रम के छात्रों के वेदपाठ से उनकी नींद खुली।

ध और
ुका, तब
स्थ वेदों
स्पर्श से
ान् राजा
की रक्षा
ों वाली
ौर जाते
उन्हें रोक

दिया क्योंकि मनु की सन्तान दूसरे से रक्षा नहीं चाहती,
अपने बाहुबल पर ही भरोसा रखती है। वन में, सम्राट् ने नन्दिनी

१.५ / १६   १.५ / ११   २.१ / १७   ६ / ४

८.३ / १, २I २II III   ८.५ / ५   ७.२ / १, ३६   ७.३ / १, २II, ३

६.३ / ३६, ४२

दूसरा सर्ग

दिलीप की तपश्चर्या

प्रातःकाल होने पर, रानी सुदक्षिणा ने नन्दिनी का गन्ध और माला से सत्कार किया। जब बछड़ा दूध पी कर बांधा जा चुका, तब यशस्वी राजा ने गौ को खूंटे से खोल दिया। जैसे स्मृति-ग्रन्थ वेदों का अनुसरण करते हैं, उसी प्रकार नन्दिनी के खुरों के स्पर्श से पवित्र वनमार्ग पर, महारानी भी पीछे-पीछे चलीं। दयावान् राजा ने दयिता (पत्नी) को वन जाने से रोक कर सौरभेयी (नन्दिनी) की रक्षा का बोझ अपने कन्धों पर लिया, मानो चार स्तनरूपी समुद्रों वाली पृथ्वी की रक्षा का बोझ संभाला हो। राजा को वन की ओर जाते देखकर राजपुरुष भी पीछे-पीछे चलने लगे। राजा ने उन्हें रोक दिया क्योंकि मनु की सन्तान दूसरे से रक्षा नहीं चाहती, अपने बाहुबल पर ही भरोसा रखती है। वन में, सम्राट् ने नन्दिनी

के भोजन के लिए स्वादु-स्वादु घास एकत्र की, खुजली होने पर खुजाया, जंगली दंशों को हटाया और रास्ते की रुकावटों को दूर करके इच्छानुसार घूमने का मार्ग साफ किया। जब नन्दिनी ठहरती तब राजा भी ठहर जाता, जब वह चलती तो चलने लगता; जब नन्दिनी बैठ जाती तब राजा बैठ जाता, और जब वह जल पीती तब जल-पान करता था। इस प्रकार राजा छाया के समान उसके साथ-साथ चलता था। जैसे, जब गजराज के कपोलों से मद न चू रहा हो, तब भी डील-डौल के कारण उसकी गजराजता का अनुमान लगाया जा सकता है, उसी प्रकार सब राजसी ठाठ का परित्याग कर देने पर भी चेहरे के तेज से राजा का राजपन साफ-साफ झलक रहा था। लताओं से केशों का जूड़ा बांधे हुए मुनिवेश में वह नरपति, मुनि की होम-धेनु की रक्षा के बहाने से हिंसक जन्तुओं को नियन्त्रण में लाने के लिए जङ्गल में घूम रहा था। सब सेवकों का विसर्जन कर देने के कारण बिल्कुल एकाकी वह वरुण देवता के समान ओजस्वी राजा जिस मार्ग से गुजरता था, उसके दोनों ओर लगे हुए वृक्ष चहचहाते पक्षियों के शब्दों से उसका जय-जयकार करते थे। वृक्षों पर चढ़ी हुई कोमल लतायें पवन रूपी हाथों से अग्नि समान तेजस्वी दिलीप पर पुष्पवर्षा कर रही थीं, मानो नगर की कन्यायें अपने घरों की अटारियों से लाजों की वर्षा कर रही हों। खोखले बांसों में तार स्वर से गूंजते हुए पवन की ध्वनि द्वारा वनदेवता उसके यश का गान कर रहे थे। हिमालय की गोद में बहने वाली नदियों के तुषार के स्पर्श से शीतल और वृक्षों के फूलों के सम्पर्क से सुगन्धित पवन, छाते के बिना धूप में भ्रमण करते हुए राजा की थकान को उतार रहा था। दिन व्यतीत हो जाने पर, अपने परिभ्रमण से दिशाओं को पवित्र करके, कोंपल के समान, तांबे जैसे रंग वाली सन्ध्या और मुनि की गौ घर की ओर लौटीं। जिसके दूध से देवता, पितृगण और अतिथियों को सन्तुष्ट किया जाता था, राजा उस पवित्र

गौ के पीछे-पीछे चला। नन्दिनी पीछे चलने वाले राजा से ऐसे शोभा-यमान हो रही थी, जैसे श्रद्धा विधिपूर्वक किये गये अनुष्ठान से शोभा-यमान होती है। उस समय जङ्गली सुअर जोहड़ों में से निकल रहे थे, मयूर अपने डेरों की ओर जा रहे थे, और हरिण दिन के श्रमण से लौट कर हरे मैदानों में विश्राम कर रहे थे। दूध से भरे हुए स्तनों के कारण नन्दिनी और शरीर के विशाल डीलडौल के कारण राजा दिलीप, दोनों ही ऐसी शानदार चाल से चल रहे थे कि आश्रम के मार्ग की शोभा दस गुना हो गयी थी।

मुनि वसिष्ठ की गौ के पीछे-पीछे आते हुए भर्त्ता को, रानी, मानो अत्यन्त प्यासे नेत्रों से, देर तक एकटक निहारती रही। आगे राजा पीछे रानी और बीच में नन्दिनी—आश्रम में इस क्रम से जब वह तीनों पहुंचे, तो ऐसा प्रतीत होता था मानो दिन और रात के मध्य में सन्ध्या पधार रही हो। ठिकाने पर पहुंच कर सुदक्षिणा ने अक्षतों का पात्र हाथ में लेकर नन्दिनी की प्रदक्षिणा की, फिर प्रणाम किया और अन्त में फल-सिद्धि के द्वार के सदृश शृंगों के मध्यस्थान की पूजा की। नन्दिनी बछड़े के लिए उत्सुक थी, तो भी उसने शांत-भाव से पूजा ग्रहण कर ली, इससे राजा रानी बहुत प्रसन्न हुए। भक्तिपूर्वक उपस्थित हुए प्रार्थियों के प्रति ऐसे पावन व्यक्तियों की प्रसन्नता के चिन्ह पहले ही प्रकट हो जाते हैं।

इसी प्रकार राजा की दिनचर्या चलने लगी। रात को नन्दिनी के सो जाने पर सोता, प्रातः उठने पर उठता और दिन चढ़ने पर नन्दिनी के पीछे-पीछे धनुष हाथ में लेकर जङ्गल चला जाता। सम्राट् और साम्राज्ञी को यह व्रत पालन करते हुए इक्कीस दिन व्यतीत हो गये।

एक दिन नन्दिनी अपने सेवक के भाव की परीक्षा करने के लिए गङ्गा के प्रपात के समीप हरे-हरे घास से सुशोभित हिमालय की

गुफा में घुस गयी। कोई हिंसक प्राणी भी मुनि की यज्ञ-धेनु का कुछ नहीं बिगाड़ सकता, इस भावना से राजा बिल्कुल निश्चिन्त था और पर्वत की शोभा निहार रहा था कि एक शेर ने धेनु को धर दबाया। उसका आर्त्तनाद गुफा से प्रतिध्वनित होकर गूंज उठा, जिसने हिमालय में लगी हुई राजाकी दृष्टि को मानो रासों से पकड़ कर अपनी ओर खींच लिया। धनुर्धारी दिलीप ने देखा कि उस पाटल गौ के समीप केसरी शेर खड़ा हुआ है, मानो तांबे के रंग की चट्टान पर लोध्र का पेड़ खिला हुआ हो। शेर के समान चाल वाले राजा के मन में शेर के इस अविनय से अत्यन्त ग्लानि उत्पन्न हुई और उसका हाथ स्वभाव से तूणीर से तीर निकालने के लिए बढ़ा। परन्तु राजा ने दुःख और आश्चर्य से अनुभव किया कि उसका दांया हाथ नख की प्रभा से रंगे हुए तीर की केरी पर पहुँच कर रुक गया—ऐसा गति-हीन होगया मानो किसी चित्र का अंग हो।

क्रोध से भरे हुए फणियर सांप की जो दशा मन्त्र और औषधि द्वारा काटने की शक्ति के रोक देने पर हो जाती है—भुजा के शक्तिहीन हो जाने पर राजा की वही दशा हो गई, वह अपने भड़के हुए तेज से अन्दर ही अन्दर जलने लगा। बलिष्ठ हाथ के रुक जाने के कारण क्रोध और आश्चर्य में पड़े हुए राजा के आश्चर्य को और अधिक बढ़ाता हुआ सिंह मनुष्य की भाषा में राजा से कहने लगा—

"हे राजन्, अपना हाथ तूणीर से हटा लो। यदि तुम तीर चला दोगे, तो भी वह यहां व्यर्थ ही जायगा। जो वायु का झोंका पेड़ को जड़ से उखाड़ कर फेंक देता है, वह चट्टान से टकरा कर व्यर्थ हो जाता है। तुम मुझे साधारण शेर मत समझो। कैलाश पर्वत के समान सफेद वृषभ पर बैठने के समय, भगवान् शंकर मेरी पीठ को पायदान बना कर पवित्र करते हैं। मेरा नाम कुम्भोदर है, मैं भगवान् का सेवक हूं। यह जो दियार का वृक्ष सामने दिखाई दे रहा है, इसे मेरे स्वामी ने अपना बच्चा माना हुआ था। स्कन्द की माता (पार्वती)

ने सोने के कलश से पानी देकर इसे ऐसे पाला था, जैसे छाती के दूध से बच्चे को पाला जाता है। एक बार एक जङ्गली हाथी ने पीठ खुजला कर इसकी छाल उतार दी। उससे मां को ऐसा दुःख हुआ मानो सेनापति कुमार को असुरों के अस्त्रों ने घायल कर दिया हो। तभी से स्वामी ने मुझे इस वृक्ष की रखवाली पर नियुक्त कर दिया है, और यह नियम बना दिया है कि जो शिकार यहां स्वयं आ जाय उसी से अपना पेट भरता रहूं। जैसे राहु की तृप्ति के लिए चन्द्रमा का अमृत प्राप्त होता है, आज परमेश्वर ने उसी प्रकार मेरी भूख का निवारण करने के लिये यह बलि भेजने की कृपा की है। हे राजन्, जिसकी रक्षा करनी चाहिये, यदि यत्न करने पर भी शस्त्रों से उसकी रक्षा न हो सके तो शस्त्रधारी को दोष नहीं दिया जा सकता। तुम लज्जा मत करो। तुमने गुरु के प्रति अपनी भक्ति प्रकट कर दी, अब तुम घर लौट जाओ।"

महाराज ने जब पशुओं के सम्राट् के प्रगल्भ वचनों से यह जाना कि भगवान् शंकर के प्रभाव ने उसके हाथों और शस्त्रों की शक्ति को क्षीण कर दिया है, तो उसके मन में अपने प्रति जो ग्लानि का भाव उत्पन्न हुआ था, वह हलका हो गया। राजा ने सिंह से कहा—

"हे मृगेन्द्र, मेरा हाथ शंकर के प्रभाव से रुक गया है, इस कारण मैं जो कुछ कहना चाहता हूं, उसे सुन कर शायद तुम हंस पड़ोगे। परन्तु तुम तो प्राणियों के मन की बात भी जानते हो, तब कहने में ही क्या हानि है। सृष्टि की रचना, रक्षा और संहार करने वाले भगवान् के सामने मैं सिर झुकाता हूं, परन्तु मैं गुरु के यज्ञ के साधनभूत इस गोधन को नष्ट होता भी तो नहीं देख सकता। सो हे वन के स्वामी! अपनी भूख की मेरे शरीर से निवृत्ति कर लो। सन्ध्या के समय महर्षि की इस धेनु का बछड़ा अपनी मां की बाट जोह रहा होगा, इसे छोड़ दो।"

देवाधिदेव का सेवक राजा दिलीप की बात सुन कर कुछ हंस कर कहने लगा। बोलते समय उसके बड़े बड़े दांतों की सफेद किरणों से गुफा का अन्धकार नष्ट हो रहा था। उसने कहा—

"पृथ्वी पर तुम्हारा एकच्छत्र राज्य है, चढ़ती जवानी है और सुन्दर शरीर है। छोटी सी बात के लिये सब कुछ त्याग देने का संकल्प प्रकट करते हुए तुम मुझे नासमझ से प्रतीत होते हो। यदि तुम दया के कारण अपनी बलि दे रहे हो तो सोचो कि तुम्हारे मरने से केवल एक गौ बचेगी, और जीवित रहोगे तो चिरकाल तक सम्पूर्ण प्रजा की, पिता के समान, आपत्तियों से रक्षा कर सकोगे। हो सकता है कि तुम्हें गुरु के अग्नि समान क्रोध से डर लगता हो, उसका निवारण तुम करोड़ों दुधार गौओं का दान करके कर सकते हो। सो, तुम्हें उचित है कि अपने निरन्तर सुखी और स्वस्थ शरीर का रक्षा करो, क्योंकि पृथ्वी के चक्रवर्ती राज्य और स्वर्ग के राज्य में केवल पृथ्वी को छूने का भेद है, अन्यथा दोनों एक समान हैं।"

केसरी इतना कह कर चुप होगया तो प्रतिध्वनि द्वारा मानो गुफा ने भी उसके कथन का अनुमोदन किया। राजा उसका उत्तर देने लगा तो उसने देखा कि मुनि की गौ बहुत कातर आंखों से उसकी ओर एक टक निहार रही है। राजा ने कहा—"क्षत्रिय उसे कहते हैं, जो प्रहार से निर्बल की रक्षा करे। मैं तुम से नन्दिनी की रक्षा नहीं कर सका, ऐसी दशा में अपने कर्त्तव्य से हीन और निन्दा से कलङ्कित प्राणों को बचा कर क्या करूंगा? तुम कहते हो कि मैं बहुत सी अन्य धेनुओं की भेंट देकर कर गुरु को सन्तुष्ट कर दूं। यह नन्दिनी गौ सुरभि के बराबर महत्त्व रखती है, असंख्य गौ भी इसकी बराबरी नहीं कर सकतीं। यदि तुम्हें भगवान् रुद्र का सहारा न होता, तो तुम इस पर प्रहार न कर सकते। सो, हे मृगेन्द्र मैं अपने शरीर को मूल्य रूप में देकर तुमसे इसे खरीदना चाहता हूं। यह न्याय की बात है क्योंकि इससे तुम्हारी भूख भी मिट जायगी, और मेरे गुरु

का यज्ञ भी खण्डित न होगा। तुम्हीं सोचकर देखो। भगवान् की आज्ञा को मानकर तुम प्राणपण से इस देवदारु के पेड़ की रक्षा कर रहे हो। क्या इसी प्रकार गुरु की यज्ञधेनु की रक्षा में जीवन की बाजी लगा देना मेरा कर्त्तव्य नहीं है? मेरे जैसे व्यक्ति धर्म के सामने अपने हाड़-चाम के पिण्ड का कोई दाम नहीं समझते। यदि तुम्हारे हृदय में मेरे प्रति दया का भाव उत्पन्न हुआ है, तो उसका प्रवाह मेरे यशरूपी शरीर की ओर प्रवाहित करो। सज्जनों की मैत्री का जन्म आपस की बातचीत से ही हो जाता है। वह हम दोनों में हो चुका—इस कारण हे भगवान् शंकर के सेवक, मेरी पहली इच्छा का तिरस्कार न करो। मुझे कलेवा बनाकर ऋषि की धेनु को छोड़ दो। सिंह ने उत्तर में कहा—"बहुत अच्छा।" उस समय राजा ने अनुभव किया कि उसके हाथों पर जो प्रतिबन्ध लगा था, वह हट गया। राजा ने अपने हथियार रख दिये, और मांस के पिण्ड के समान अपने निश्चेष्ट शरीर को बलिदान के लिये उपस्थित कर दिया।

प्रजाओं के पिता के समान सम्राट् दिलीप सिर नीचा करके सिंह के आक्रमण की प्रतीक्षा करने लगे। राजा ने आश्चर्य से देखा कि स्वर्ग के देवता उस पर पुष्पों की वर्षा कर रहे हैं। इतने में शब्द सुनाई दिया—"बेटा उठो" राजा ने आंखें उठाकर देखा तो वहां शेर का कोई चिन्ह नहीं था, और मां के समान दूध बरसाती हुई नन्दिनी सामने खड़ी थी। राजा को आश्चर्य में डूबा हुआ देखकर नन्दिनी ने कहा—

"हे सज्जन, मैंने अपनी माया के बल से तेरी परीक्षा ली है, अन्यथा ऋषि के प्रभाव से मुझ पर तो यमराज भी आक्रमण नहीं कर सकता, साधारण हिंसक पशुओं की तो बिसात ही क्या है। तूने अपने गुरु के प्रति भक्ति और मेरे प्रति दया के भाव से मुझे प्रसन्न कर लिया है। हे पुत्र, तू यथेष्ट वर मांग। मैं केवल दूध ही नहीं देती, कामनाओं की पूर्ति भी करती हूं।"

नन्दिनी के इन वचनों से आश्वासन पाकर, राजा ने शक्ति द्वारा वीरता का यश फैलाने वाले अपने हाथों को जोड़कर नन्दिनी को प्रणाम किया, और वर मांगा कि सुदक्षिणा की कोख से वंश का संस्थापक पुत्ररत्न उत्पन्न हो। "ऐसा ही होगा"—यह आशीर्वाद देकर नन्दिनी ने राजा को आदेश दिया कि पत्ते के दोनों में लेकर मेरा दूध पियो; तुम्हारी कामना पूरी होगी। राजा ने निवेदन किया—"मां, जैसे मैं पृथ्वी की रक्षा करके केवल उसका छठा भाग कर के रूपमें लेता हूं, उसी प्रकार बछड़े और यज्ञ से बचा हुआ तुम्हारा स्तन्य (दूध) मैं ऋषि की अनुमति से ग्रहण करूंगा।"

राजा के उत्तर से अत्यन्त सन्तुष्ट होकर नन्दिनी हिमालय की गुफा से निकल आश्रम की ओर रवाना हुई। आश्रम में पहुंच कर राजा ने गुरु वसिष्ठ को शुभ समाचार सुनाया। रानी सुदक्षिणा ने राजा के प्रसन्न मुख को देखकर ही सब कुछ समझ लिया था, राजा ने जो शुभ समाचार सुनाया वह तो पुनरुक्ति मात्र ही हुआ। सायंकाल होने पर यज्ञ और बछड़े से बचे हुए नन्दिनी के दूध को, गुरु की आज्ञा पाकर राजा ने इस प्रकार पिया, मानो शुद्ध यश का पान कर रहा हो।

दूसरे दिन प्रातःकाल ऋषि ने राजदम्पती को आशीर्वाद देकर विधिपूर्वक विदाई दी। दोनों ने पहले यज्ञाग्नि की, फिर गुरु-पत्नी अरुन्धती सहित गुरु वसिष्ठ की और अन्त में बछड़े समेत नन्दिनी की प्रदक्षिणा की। अपने पूर्ण हुए मनोरथ के समान विघ्नरहित और सुखकारी रथ से वह दोनों घर की ओर चले। जैसे अमावस्या के अनन्तर अन्तरिक्ष में फिर से दिखाई देने वाले औषधियों के स्वामी चन्द्र का दर्शन किया जाता है, चिरकाल के पश्चात् प्रजाओं की भलाई के लिए की गयी तपस्या से कृशकाय दिलीप का प्रजाजनों ने उसी प्रकार प्यासे नेत्रों से पान किया, और झण्डियों से राजधानी को सजा कर अभिनन्दन किया।

महाराज सिंहासनारुढ़ होकर समुद्र-मेखला पृथ्वी का शासन करने लगे।

कुछ समय के पश्चात्, जैसे अत्रि मुनि के नयनों से उत्पन्न चन्द्रमा को आकाश ने धारण किया था, और जैसे अग्नि द्वारा फेंके हुए स्कन्द रूपी तेज को गंगा ने संभाल लिया था, वैसे ही रानी सुदक्षिणा ने कुल के कल्याण के लिये उत्कृष्ट गर्भ को धारण किया।

———

तीसरा सर्ग



रघु की अग्नि-परीक्षा

यथासमय रानी सुदक्षिणा गर्भवती हुई। जैसे प्रभात-काल के समीप आने पर चन्द्रमा के प्रकाश से प्रकाशित रात्रि के आकाश पर पीलापन छा जाता है, उसी प्रकार उसके चेहरे पर भी लोध्र पुष्प की सी सफेदी आने लगी। ग्रीष्म ऋतु के सूखे हुए तालाब की मिट्टी में वर्षा की बूंदों से जो सुगन्ध पैदा होती है, उसे सूंघ कर जैसे जंगली हाथी प्रसन्न होता है, वैसे ही रानी के मुंह से मिट्टी की बास लेकर राजा भी प्रसन्न होता न थकता था, मानो रानी यह सोच रही हो कि मेरी कोख से जो राजकुमार जन्म लेगा, उसे पृथ्वी का ही तो उपभोग करना है। "यह मुझ से लज्जावश स्वयं कुछ न कहेगी, तुम बतलाओ कि यह क्या चाहती है"—इस प्रकार सहेलियों से पूछ-पूछ कर राजा सुदक्षिणा की इच्छाओं को तत्काल पूरा कर देता था। तीनों लोकों में ऐसी कोई वस्तु नहीं थी, जो उस पराक्रमी धनुर्धारी के लिए

दुर्लभ हो। क्रम से सुदक्षिणा की प्रारम्भिक क्षीणता दूर होने और पूर्णता की सुन्दरता आने लगी, मानो पुराने पत्तों के झड़ जाने पर नई सुन्दर कोंपलें लता पर आगई हों। राजा ने कुल-पुरोहितों से यथासमय पुंसवनादि संस्कार विधिपूर्वक कराये। दसवें मास में बाल-चिकित्सा के जानने वाले कुशल वैद्यों द्वारा गर्भपोषण की प्रक्रिया हो जाने पर, बादलों से भरे हुए अन्तरिक्ष की भांति परिपूर्ण पत्नी को देखकर राजा ने अनहद प्रसन्नता का अनुभव किया।

अच्छे महुर्त्त में, जब पांचों ग्रह अनुकूल थे, शची-समान राजपत्नी ने, पुत्र रत्न को जन्म दिया जैसे प्रभाव, उत्साह और मन्त्रणा से सम्पन्न शक्ति अनश्वर सम्पत्ति को जन्म देती है। उस समय दिशायें खिल उठीं, सुखकारी पवन बहने लगा, यज्ञाग्नि चारों ओर लपटों को फैला कर यज्ञ की सामग्री का ग्रहण करने लगी—इस प्रकार उस क्षण में सभी कुछ कल्याण की सूचना देने लगा। ऐसे महापुरुषों के जन्म संसार के कल्याण के लिए ही होता है। जिस समय सूतिकागृह में उस नवजात को बिस्तर पर लिटाया गया तो उसके उग्र तेज के सामने रात के समय जलने वाले दीपक मन्द पड़ गये, मानो दीवार पर दीपकों के केवल चित्र बने हुए हों। महलों से आकर जिन परिचारकों ने पुत्र-जन्म का शुभ समाचार सुनाया, महाराज ने उन्हें चन्द्र के समान उज्ज्वल राज्यच्छत्र और शाही चामरों को छोड़ कर अन्य जो कुछ भी उन्होंने मांगा, देने में संकोच नहीं किया। जिस समय राजा दिलीप ने पुत्र के चन्द्र समान सुन्दर मुख को एकटक दृष्टि से देखा, उस समय उसके हृदय रूपी सागर में प्रसन्नता का तूफान सा उमड़ कर किनारों की सीमा को पार कर रहा था। ऋषि वसिष्ठ ने वन से आकर कुमार के जातकर्म सम्बन्धी सब संस्कार विधिपूर्वक कराये। जिस प्रकार खान में से निकले हुए रत्न की पत्थर पर घिसने से आभा बढ़ती है, संस्कारों से रघु की आभा भी उसी प्रकार उत्तरोत्तर वृद्धि

पाने लगी। उस सुअवसर पर, केवल सम्राट् दिलीप के घर पर ही नहीं, अपितु देवताओं के विहार-स्थान अन्तरिक्ष में भी मंगलमय मधुर बाजे बजने लगे और अप्सरायें प्रसन्नता भरे नाच नाचने लगीं। प्रायः राजा लोग ऐसे उत्सवों पर कैदियों को छोड़ देते हैं, पर उसके राज्य में तो कोई कैदी ही नहीं था; हां, वह स्वयं ही अपने पूर्व-पुरुषाओं के प्रति विद्यमान पितृऋण से मुक्त हो गया। 'रघु' शब्द का अर्थ है "जाने वाला"। यह बालक विद्यारूपी समुद्र को पार करे और शत्रुओं के अन्त तक जा पहुंचे—इसी संकल्प से राजा ने उसका नाम 'रघु' रखा। जिस प्रकार शिव और पार्वती कुमार के जन्म से तथा इन्द्र और शची जयन्त के जन्म से प्रसन्न हुए थे, दिलीप और सुदक्षिणा भी रघु के जन्म से उसी प्रकार प्रसन्न हुए। उन दोनों का चकवा-चकवी का सा हार्दिक प्रेम, जो पहले ही बहुत गहरा था, पुत्र में एकत्र होकर और भी अधिक गहरा होगया। रघु चन्द्रमा की कलाओं की भांति प्रतिदिन वृद्धि पाने लगा। पहले वह धाई की अंगुलि पकड़ कर चलने लगा और उसके अनुकरण में शब्द बोलने लगा, फिर अपने समान आयु वाले अमात्य-पुत्रों के साथ मिलकर लिपि सीखने लगा; जैसे नदी रूपी मुख से अनेक प्रकार के पदार्थ समुद्र में पहुंच जाते हैं, उसी प्रकार लिपि द्वारा रघु ने भी विद्यारूपी महासमुद्र में प्रवेश किया। कुछ समय पीछे उसका यज्ञोपवीत संस्कार हुआ, जिसके पश्चात् गुरुजनों ने उसे विधिपूर्वक शिक्षा देना आरम्भ कर दिया। रघु ने बड़े परिश्रम से अध्ययन किया। जैसे सूर्य अपनी किरणों के बल से चारों दिशाओं को पार कर लेता है, वैसे रघु ने भी बुद्धिबल से समुद्र के समान विस्तीर्ण चारों विद्याओं को पार कर लिया। अस्त्र-शिक्षा तो उसने अपने पिता से ही प्राप्त की। ब्रह्मचारियों के योग्य मृगछाला पहिन कर वह पिता से ही शस्त्रास्त्र-विद्या सीखता था, क्योंकि उसका पिता केवल पृथ्वी का प्रमुख शासक ही नहीं था, वह

सर्वोत्कृष्ट धनुर्धारी भी था। धीरे-धीरे रघु के बचपन में से यौवन फूटने लगा जिससे उसका शरीर सुन्दर और गम्भीर दिखाई देने लगा—मानो बछड़ा विशाल बैल की पदवी को छू रहा हो, मानो हाथी का बच्चा गजराज के रूप में परिणत हो रहा हो। समय अनुकूल देखकर राजा ने रघु का दीक्षान्त-संस्कार किया, और विधिपूर्वक विवाह कर दिया। अब तो रघु की कलायें प्रतिदिन बढ़ने लगीं। जब उसका जवानी से भरा हुआ शरीर, लम्बे और बलिष्ठ बाहु, उभरे हुए कन्धे और विशाल वक्षःस्थल दृष्टिगोचर होते थे, तब दिलीप का शरीर छोटा प्रतीत होने लगता था; परन्तु जब रघु की आंखों पर दृष्टि पड़ती थी, तब वह पिता के सामने सदा झुकी हुई दिखाई देती थीं। उचित अवसर देखकर, सम्राट् दिलीप ने अपने कन्धों का बोझ हल्का करने के लिए रघु को युवराज के पद से विभूषित कर दिया, जिससे उसकी शक्ति और भी अधिक असह्य होगई, मानो जंगल की आग को वायु की सहायता मिल गई हो, मानो बादलों के हट जाने से सूर्य का तेज चमक उठा हो और मानो कुम्भस्थल से मद फूट पड़ने के कारण हाथी का बल बढ़ गया हो।

चक्रवर्त्ती आर्य राजाओं की पद्धति का अनुकरण करते हुए, रघु को युवराज के पद पर नियुक्त करके सम्राट् दिलीप ने सौ अश्वमेध यज्ञ करने का संकल्प किया। अश्व की रक्षा का कार्य युवराज रघु और उसकी अनुयायिनी राजपुत्रों की सेना को सौंप कर राजा यज्ञ करने में संलग्न होगया। इस प्रकार निन्यानवें अश्वमेध यज्ञ बिना किसी विघ्न-बाधा के पूरे कर लिये। जब सौवीं बार अश्वमेध का घोड़ा दिग्विजय के लिये निकला तो युवराज और उसके धनुर्धारियों ने आश्चर्य से देखा कि अकस्मात् उनके सामने से घोड़ा लुप्त होगया। कुमार की सेना घबरा कर रुक गई। कुमार भी किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो गया। उसी समय नन्दिनी धेनु मानो

कुमार के संकट को टालने के लिए वहां आ पहुंची। रघु ने उसे दैवी सन्देश समझ कर नन्दिनी के अंग-जल से अपनी आंखों को धो डाला। धोने पर उसकी आंखें परोक्ष को देखने लगीं, जिससे उसने क्या देखा कि स्वयं स्वर्ग के राजा इन्द्र यज्ञ के घोड़े को लिए जा रहे हैं; घोड़ा बार-बार छूटने की चेष्टा कर रहा है और इन्द्र का सारथि उसे रोक रहा है। हरे रंग के सौ घोड़ों और सौ चक्षुओं से कुमार ने देवराज को आसानी से पहिचान लिया, और आकाश-मण्डल को गुंजा देने वाले गम्भीर स्वर से उन्हें मानो पीछे लौटाते हुए कहा—

"हे देवताओं के राजा, यज्ञ का भाग प्राप्त करने वाले देवताओं में सब से पहला स्थान आप ही का है। मेरे पिता निरन्तर यज्ञ करने में संलग्न हैं। आश्चर्य की बात है कि आप ही उसमें विघ्नकारी हो रहे हैं। आप त्रिलोकी के रक्षक हैं। जो लोग यज्ञ का नाश करते हैं, दिव्य दृष्टि से आप ही उनका नियन्त्रण करते हैं। यदि आप ही धर्मात्मा लोगों के कार्यों में विघ्नकारी बनने लगेंगे, तो धर्म कहां रहेगा? इस कारण, भगवन्, यज्ञों के अंग इस अश्व को आप छोड़ दीजिये। मनुष्यों को वेद मार्ग दिखलाने वाले आप जैसे महानुभावों को मलिन मार्ग पर नहीं चलना चाहिये।"

रघु के इस प्रगल्भ वचन को सुनकर देवराज ने अपने रथ को लौटा लिया, और उत्तर दिया:—

"हे राजपुत्र, तुमने जो बात कही, वह ठीक ही है, परन्तु यशस्वी पुरुषों को अपने यश की रक्षा भी तो करनी चाहिये। तुम्हीं देखो कि सारे संसार के सामने तुम्हारा गुरु [पिता] यज्ञों द्वारा मेरे यश को धुंधला करने की तैयारी कर रहा है। जैसे संसार में केवल एक विष्णु हैं और एक महादेव हैं, उसी प्रकार शत-

क्रतु [सौ यज्ञ करने वाला] भी एक मैं ही हूं। किसी दूसरे व्यक्ति को इस पद को प्राप्त करने का अधिकार नहीं है, इस कारण मैंने तुम्हारे पिता के घोड़े का अपहरण कर लिया। जैसे सगर की सन्तान, कपिल मुनि के समीप अश्व को लेने जाकर भस्मसात् हो गयी थी, तुम भी वैसे ही दुःसाहस मत करो।"

इन्द्र के वचन सुनकर कुमार ने निर्भयतापूर्वक हंसते हुए कहा—"यदि आपका यही निश्चय है तो अपना हथियार संभालिये। रघु को जीते बिना आप यज्ञ के घोड़े को नहीं ले जा सकेंगे" और धनुष में तीर लगाने के लिये तूणीर की ओर हाथ बढ़ाया। रघु के चलाये हुए बलवान् तीर की हृदय पर चोट खाकर देवराज का कोप भी भड़क उठा, और उसने नये बादलों पर शोभायमान होने वाले इन्द्रधनुष के सदृश विशाल और सुन्दर धनुष पर अमोघ बाण चढ़ाया। देवराज का तीर रघु की छाती पर जाकर बैठा। उसे अब तक असुरों का रुधिर पीने की आदत थी। उसने पहली बार मानो बड़ी उत्सुकता से मनुष्य का रक्त पिया। इस पर कुमार का रोष भी प्रचण्ड होगया और उसने देवराज की उस भुजा पर, जिसकी अंगुलियां ऐरावत के अंकुश से सख्त हो गयी थीं और जिस पर देवों की महारानी शची के बनाये हुए मांगलिक चिन्ह विद्यमान थे, अपने नाम से अंकित तीर आरोपित कर दिया। साथ ही कुमार ने मोर के पंख के समान आकृति वाले एक बाण से इन्द्र की वज्रांकित ध्वजा को काट डाला। उससे तो देवराज को ऐसा अनुभव होने लगा, मानो देवताओं की श्री के केशों पर हाथ डाला गया हो। युद्ध की भीषणता और भी बढ़ गयी। आकाश से विमानों पर बैठे हुए देवगण और पृथ्वी पर से सैनिक लोग उन दोनों ही विजय की इच्छा रखने वाले वीरों के अद्भुत युद्ध को आश्चर्यपूर्वक देख रहे थे। इन्द्र और रघु के कमानों से निकले हुए क्रमशः नीचे

बरसने और ऊपर जाने वाले तीरों से अन्तरिक्ष आच्छादित होगया। जैसे अपने अंदर से गिर कर जंगल में लगी हुई अग्नि को बुझाने में बादल असमर्थ हो जाता है, उसी प्रकार अनेक शस्त्रास्त्रों का प्रयोग करके भी देवराज कुमार को परास्त न कर सके। उसी समय कुमार के धनुष से निकले हुए अर्द्धचन्द्र के आकार के बाण ने इन्द्र की, तूफानी समुद्र के समान गम्भीर गर्जना करती हुई, प्रत्यंचा को मुट्ठी के पास से काट दिया। तब तो देवराज का क्रोध अत्यंत उग्र होगया। वज्रधर ने धनुष को नीचे रख दिया और अपनी चोट से पर्वतों के पहलुओं को तोड़ डालने वाले, चमकते हुए प्रकाश-पुञ्ज वज्ररूपी अस्त्र को हाथ में लिया। जब देवराज का वज्र रघु की छाती पर लगा, तो सैनिकों के आंसुओं के साथ कुमार भी क्षण भर के लिए पृथ्वी पर गिर गया, परन्तु अभी आंसू पूरी तरह पृथ्वी पर पहुंचने भी न पाये थे कि सैनिकों के गगनभेदी जयनादों के साथ रघु भी उठ कर खड़ा होगया। कुमार के इस अपूर्व बल और साहस को देखकर इन्द्र का कोप शान्त होगया। 'मनुष्य अपने गुणों से ही ऊंचा पद प्राप्त कर सकता है।' संतुष्ट होकर वज्रपाणि ने रघु से कहा—

"हे कुमार, मेरे जिस वज्र के आघात को पर्वतों की चट्टानें भी नहीं सह सकतीं, उसे तूने सह लिया। मैं तेरे बल और साहस से प्रसन्न हुआ हूं। बता, घोड़े के सिवाय तू क्या चाहता है।" उस समय रघु का हाथ तूणीर पर था, जिसमें से सुनहली नोक वाला बाण आधा निकल चुका था और उसकी झलक से कुमार की अंगुलियां सुनहली हो रही थीं। देवराज की बात सुनकर कुमार ने हाथ को वहीं थाम लिया, और मीठे स्वर में इन्द्र से कहा— "हे प्रभो, यदि आप यज्ञ के अश्व को छोड़ना उचित नहीं समझते, तो मेरी प्रार्थना है कि विधिपूर्वक यज्ञ-समाप्ति पर मेरे पिता को

यज्ञ के सम्पूर्ण फल का भागी बना दीजिये, ताकि अश्व के न लौटने पर भी यज्ञ सर्वांग-सम्पन्न समझा जाय। यह कृपा और कीजिये कि इस सारी घटना का समाचार अपने दूत द्वारा महाराज तक ऐसे अवसर पर पहुँचा दीजिये, जब वह सभा में विराजमान हों।"

"ऐसा ही होगा"—कहकर देवराज स्वर्गलोक के लिए प्रस्थित हो गये और कुछ उदास चित्त से सुदक्षिणा का वीर पुत्र भी अपने घर की ओर लौटा। महाराज को सब समाचार इन्द्र के दूत से प्राप्त होचुके थे। जब रघु घर पहुँचा तो महाराज ने प्रसन्नतापूर्वक अत्यन्त शीतल हाथों से उस के वज्र द्वारा आहत अंगों को स्पर्श किया।

इस प्रकार राजा दिलीप ने निन्यानवें यज्ञ पूर्ण करके मानो मृत्यु के पश्चात् स्वर्ग तक पहुँचने के लिए निन्यानवें सीढ़ियां तैयार कर लीं। राजा का चित्त सांसारिक झंझटों से विरक्त हो चुका था। रघुकुल की मर्यादा के अनुसार दिलीप ने अपने छत्र और चामर वीर पुत्र को सौंप दिये, और देवी सुदक्षिणा को साथ ले, तपोवन के वृक्षों की शीतल और शान्त छाया का आश्रय लिया।

———

चौथा सर्ग



दिग्विजय

संध्या के समय, अस्ताचलगामी सूर्य द्वारा दिये गये तेज को प्राप्त करके जैसे आग अधिक उज्ज्वल हो जाती है, उसी प्रकार अपने गुरु (पिता) से शासन का अधिकार प्राप्त करके रघु चमक उठा । उधर अन्य शासकों के हृदयों में, दिलीप के गौरव को देखकर प्रतिस्पर्धा की जो आग केवल सुलग रही थी, रघु के सिंहासनारूढ़ होने पर भड़क उठी । उस वीर ने पिता के सिंहासन पर और शत्रुओं के मस्तक पर एक ही समय में पैर रखा। राज्याभिषेक के समय जो छत्र रघु के सिर पर छाया गया, वह मानो साक्षात् लक्ष्मी ने अपने परोक्ष हाथों से धारण किया हो। चारण लोग जब उसकी स्तुति के गीत गाते थे, तब प्रतीत होता था कि उनकी वाणी के मिष से स्वयं सरस्वती उपस्थित हुई है । जैसे दक्षिण का वायु न बहुत शीतल होता है न बहुत गर्म, उसी

प्रकार रघु प्रजा के लिए उचित दण्ड देने के कारण न अत्यन्त उग्र था और न बहुत ढीला। जब आम के पेड़ पर फल आ जाता है, तब लोग उसके बौर को भूल जाते हैं। रघु के गुणों से भी दिलीप की स्मृति प्रजा के हृदयों में हलकी होने लगी। युद्ध के क्षेत्र के समान नीति के क्षेत्र में भी वह असाधारण प्रतिभा रखता था। उसके मन्त्री लोग जब कोई सलाह देते थे, तो वह पूर्वपक्ष ही रहता--निर्णायक उत्तर पक्ष रघु का ही होता था। जैसे प्रसन्नता देने वाला होने के कारण निशानाथ चन्द्र और तेजस्वी होने के कारण सूर्य तपन कहलाता है, वैसे प्रजाओं के रंजन के कारण रघु का "राजा" नाम अन्वर्थक था। यद्यपि उसकी भौतिक आंखें विशालता कानों को छू रही थीं, परन्तु उसकी असली आंखें तो शास्त्र थे, जिनसे वह सूक्ष्म से सूक्ष्म समस्या की तह में पहुंच जाता था।

इस प्रकार अपने पराक्रम और बुद्धिबल से उसने राज्य में शान्ति की स्थापना कर दी; मानो उसके बढ़ते हुए प्रताप पर साधुवाद देने के लिये कमलों की भेंट लेकर शरद ऋतु के रूप में स्वयं राज्यश्री पृथ्वी पर उतर आई। बादल हट गये, आकाश स्वच्छ होगया, जिससे रघु का और सूर्य का प्रताप एक साथ निर्विघ्न रूप से दिशाओं में व्याप्त होने लगा। इन्द्र देवता ने वर्ष भर के लिये अपने धनुष (इन्द्र धनुष) को खेंच लिया, और रघु ने अपना धनुष हाथ में ले लिया—प्रजा की रक्षा के लिये वह दोनों ही धनुर्धारी बारी-बारी से तैयार रहते थे। शीत ऋतु की रात में छिटकती हुई चांदनी और रघु के सदा प्रसन्न रहने वाले चेहरे को देखकर प्रजा-जनों के हृदय प्रसन्नता का अनुभव करते थे। हंसों की पंक्तियों में, टिमटिमाते हुए तारों में, कुमुदिनी के फूलों में और नदियों के स्वच्छ जल में मानो उसके यश की श्वेत आभा छिटक रही थी। ईख

की छाया में आराम करने वाली, खेतों की निश्चिन्त निर्भय रखवा-लियां उस प्रजा के रक्षक के, बच्चे बच्चे तक फैले हुए, यश का गान करती थीं। शीत ऋतु में अगस्त्य के उदय से जल प्रसन्न होने लगा, पर रघु के अभ्युदय से शत्रुओं के मन कलुषित होने लगे। इसप्रकार पूरी सजधज के साथ आकर शीत ऋतु ने, नदियों को उथला कर दिया और रास्तों के कीचड़ को सुखाकर सुगम बना दिया, जिससे शक्ति के अभिलाषी रघु के हृदय में शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने की प्रेरणा उत्पन्न हो गयी।

विजययात्रा का संकल्प कर लेने पर रघु ने अश्वमेध की मांगलिक विधि का आयोजन किया, जिसमें अग्निदेवता ने यज्ञ की ज्वालाओं की भुजाओं से उसे विजयी होने का आशीर्वाद दिया। उसके पश्चात्, रघु ने राजधानी की सुरक्षा का पूरा प्रबन्ध किया, मार्ग के सुरक्षित रखने के लिये राजभक्त और शक्ति-सम्पन्न सेनायें नियुक्त कीं और गुरुजनों से आशीर्वाद प्राप्त किया। तब उसने अपनी सर्वांगसम्पन्न सेना की कमान संभाली और दिग्विजय की यात्रा का डंका बजा दिया।

जैसे क्षीरसमुद्र की लहरें दूध की फुआर से विष्णु भगवान् की पूजा करती हैं, उसी प्रकार नगर की वृद्ध महिलाओं ने लाजों की वर्षा करके विजययात्रा पर जाने के समय उसका अभिनन्दन किया।

रघु ने दिग्विजय की यात्रा का आरम्भ पूर्व दिशा से किया। उसकी सेनाएं जब ऊंची लहराती हुई ध्वजाओं से शत्रुओं को ललकारती हुईं राजधानी से निकली, तब रथों के पहियों और मेघों के समान विशाल और काले हाथियों के पैरों से उठे हुए गर्द के कारण आकाश पृथ्वी के समान और पृथ्वी

आकाश के समान प्रतीत होने लगे। राजा की मानवी सेना के साथ-साथ मानो एक और चतुरंगिणी सेना भी चली—आगे आगे राजा का प्रताप, उसके पीछे सेना का सिंहनाद, फिर सेना से उठा हुआ गर्द और अन्त में रथादि। राजा के दृढ़ निश्चय और शक्ति के सामने मरुस्थलों में जल बहने लगा, बड़ी-बड़ी नदियां उथली हो गईं और बड़े-बड़े जंगल सपाट मैदान बन गये। पूर्व की ओर उमड़ती हुई सेना का नेतृत्व करता हुआ रघु ऐसे शोभायमान हो रहा था, जैसे महादेव के जटाजूट में से बहती गंगा की धारा का प्रदर्शन करता हुआ भगीरथ। जैसे मस्त हाथी जंगल के जिस मार्ग से गुजर जाता है, वहां वृक्षों के बिखरे हुए फल, उखड़ी हुई जड़ें और टूटे हुए तने ही शेष दिखाई देते हैं, वैसे रघु जिन देशों से आगे बढ़ता गया, उनमें परास्त और झुके हुए राजवंशों के खंडहर ही दृष्टिगोचर होते थे। पूर्व दिशा के देशों को जीतता हुआ विजेता रघु आगे ही आगे बढ़ता गया यहां तक कि उसकी सेनायें ताली (नारियल) वनों से श्यामल समुद्र-तट पर जा पहुँचीं। अकड़ कर खड़े होने वाले पेड़ों का मानभंग करने वाले उस सेनापति के सामने बेंत की भांति सिर झुकाकर सुह्म देशवासियों ने अपनी प्राणरक्षा की। रघु ने और आगे बढ़कर नौकाओं की सहायता से युद्ध के लिए उद्यत बंग लोगों को पछाड़ा और गंगा की मध्यवर्ती धाराओं के द्वीपों में अपनी विजय-ध्वजायें गाड़ दीं। जैसे एक खेत से उखाड़ कर दूसरे खेत में लगाने पर, उत्कृष्ट वासुमति धान के पौदे बालों के बोझ से अधिक झुक जाते हैं, उसी प्रकार जब रघु ने बंगों को उखाड़ कर फिर से जमा दिया तो उन्होंने रघु के चरणों तक झुक कर अधीनता स्वीकार कर ली। यहां उसके मार्ग में कपिशा नाम की नदी आई, उस पर उसने हाथियों का पुल बनाया

और उससे पार होकर उत्कल के राजाओं द्वारा दिखलाये हुये मार्ग से कलिंग देश की ओर प्रयाण किया। मार्ग में महेन्द्र पर्वत आया। जैसे गम्भीरवेदी (हठीले) हाथी को वश में लाने के लिये हाथीवान उसके मस्तक पर अंकुश आरोपित करता है, उसी प्रकार रघु ने महेन्द्र की चोटी पर अपने प्रताप की ध्वजा गाड़ कर प्रभुत्व की स्थापना की। कलिंग देश के शासक ने हाथियों को सेना और शस्त्रास्त्रों से रघु का स्वागत किया, जैसे पंखों को काटने के लिये आए हुए इन्द्र का स्वागत पर्वतों ने शिलाओं से किया था। शत्रुओं के पैने बाणों की वृष्टि से राजा का जो स्नान हुआ, वही मंगल स्नान बन गया, जिसमें से प्रादुर्भूत होकर विजयश्री ने राजा के गले में विजय का हार डाल दिया। विजय प्राप्त करने के पश्चात् रघु के योद्धाओं ने महेन्द्र पर्वत पर ताम्बूली के पत्तों के दोनों से नारियल की सुरा और कीर्ति—दोनों का एकसाथ पान किया। कलिंगराज को परास्त करके धर्मी विजेता ने उसका देश उसी को वापिस कर दिया। उसने केवल उसकी राज्यश्री का अपहरण किया, राज्य का नहीं। कलिंग-विजय के पश्चात् आशातीत सफलताओं से विभूषित रघु ने फलों से लदे हुए पूग(सुपारी) वृक्षों से शोभायमान समुद्रतट के रास्ते से दक्षिण की ओर प्रयाण किया। मार्ग में कावेरी नदी पड़ी। राजा की सेना के हाथियों के मस्तकजल से सुगन्धित होकर जब नदी का जल नदियों के स्वामी समुद्र की गोद में पहुँचा, तो वह शंकित सा होगया।

दिग्विजय की इच्छा से आगे बढ़ता हुआ रघु मलयाद्रि की तराई में जा पहुँचा। वहां उसकी सेनाओं ने छावनी डाली, तो घबराए हुए हारीत पक्षी बांसों के घने जंगलों में भटक कर इधर-उधर उड़ने लगे।

सेना के घोड़ों ने इलायची के पौदों को रौंद डाला तो उससे

सुगन्ध के जो रेणु आकाश में फैले वह मस्त हाथियों के स्वभावतः सुगन्धित मद वाले गण्डस्थलों पर पड़कर एकीभूत से होगये । पांव के बन्धन को तोड़कर भागने वाले हाथियों ने जब चन्दन के पेड़ों से अपनी गर्दन को रगड़ा, तो वहां सांपों के लिपटने से गढ़े बने हुए थे, इस कारण उनके ग्रैव (गले के बन्धन) टूटे नहीं । जिस दक्षिण दिशा में जाकर सूर्य का तेज भी मन्द हो जाता है, रघु के वहां पहुँचने पर पाण्ड्य जाति के लोग उसके प्रताप को न सह सके, और समुद्र तथा ताम्रपर्णी नदी से एकत्र किये हुए, अपने चिर-सञ्चित यश के समान उज्ज्वल मोतियों की भेंट लेकर सेवा में उपस्थित हुये । आगे बढ़कर रघु ने दक्षिण दिशा के चन्दन से सुभूषित स्तनों के समान मलय और दर्दुर नाम के पर्वतों की यात्रा समाप्त करके समुद्रजल रूपी अंशुक के हट जाने से उघड़े हुए नितम्ब समान सह्य पर्वत में प्रवेश किया । परशुराम के अस्त्रों द्वारा सह्य पर्वत से दूर हटाया गया समुद्र भी, किनारे-किनारे जाने वाली रघु की सेनाओं के कारण पर्वत से लगा हुआ प्रतीत हो रहा था । विजेता की सेना के समीप आने पर घबराहट के कारण केरल की स्त्रियों को केशों का फूलों के केसरादि से शृंगार करने की होश न रही तो सेनाओं की धूल ही सिर के शृंगार का साधन बन गई । केतकी के फूलों का रज, मुरला नदी का स्पर्श करने वाले वायु के झोंकों द्वारा जब रघु की सेनाओं के वस्त्रों पर पड़ा, तो उसने वहां इत्र-फुलेल का काम दिया । आगे बढ़ते हुए सैनिक और घोड़ों के कवचों की सम्मिलित ध्वनि इतनी ऊंची हुई कि राजताली जंगल में गूंजती हुई हवा की ध्वनि उससे परास्त हो गई । पुन्नाग के फूलों पर मंडराते हुए भौंरे, खजूर के तने से बंधे हुए हाथियों के बहने वाले मद की सुगन्ध से आकृष्ट होकर उनके गण्डस्थलों पर टूट पड़े । जिस समुद्र ने मांगने पर

परशुराम को अपना किनारा खाली करके दिया था, उसने बिना मांगे ही अपरा द्वीप के राजा द्वारा दिये गए कर के मिस से रघु की सेवा में भेंट उपस्थित की। त्रिकूट पर्वत की चट्टानों पर रघु की सेना के मस्त हाथियों ने दांतों से जो निशान बनाये, उनसे मानो वह पर्वत ही विजेता का जयस्तम्भ बन गया।

वहां से वह संयमी पारसीक लोगों को जीतने के लिए स्थल के मार्ग से रवाना हुआ—जैसे योगी इन्द्रिय नाम के शत्रुओं को तत्वज्ञान से जीतने के लिए सन्नद्ध होता है। जैसे बरसात के अतिरिक्त ऋतुओं में सूर्य की प्रातःकालीन किरणें पद्मों को कुम्हला देती हैं, उसी प्रकार रघु के प्रताप ने यवन स्त्रियों के सुरा गन्ध वाले मुखकमलों को मुरझा दिया। पश्चिम के घुड़सवार योद्धाओं से उसका ऐसा घोर युद्ध हुआ कि गर्द में लड़ने वालों का अनुमान धनुष की टंकार से ही किया जा सकता था। काली-काली मधुमक्खियों से सने हुए शहद के समान दीखने वाले यवन लोगों के दढ़ियल चेहरों को काट-काट कर उसने पृथ्वी को ढक दिया। अन्त में वह टोपी उतारकर उसके चरणों में झुक गये। महापुरुषों का क्रोध तभी तक रहता है, जब तक दूसरा झुक न जाय। वहां रघु के विजयी योद्धाओं ने अंगूर के झुरमटों में बहुत उत्कृष्ट मृगछालाओं पर लेटकर और अंगूरी शराब पीकर अपनी थकान को उतारा।

उसके पश्चात् सूर्य के समान तेजस्वी रघु ने राजा कुबेर की दिशा (उत्तर दिशा) के जल सदृश निवासियों को सुखाकर नामशेष कर देने के लिए प्रयाण किया। काश्मीर में सिन्धु नदी के तट पर लोट कर विजेता के अश्वों ने अपनी थकान को दूर किया, और उससे उनके कन्धों पर जो केसर लग गया—उसे झकझोर कर उतार दिया। रघु ने हूण योद्धाओं को परास्त करके

उनकी स्त्रियों पर जो आपत्ति बरसाई, वह रो-पीट कर लाल किये हुए उनके कपोलों से व्यक्त होती थी। काम्बोज देश के निवासी विजेता के प्रताप को न सह सके और रघु की सेना के हाथियों के आलानों (रस्सों) से बांधने के कारण झुके हुए अखरोट के पेड़ों के साथ वह भी झुक गये। काम्बोज लोग बहुत धन और देश के प्रसिद्ध घोड़ों की जो भेंट लेकर बार बार रघु की सेवा में उपस्थित हुए उसे रघु ने अपने खजाने में प्रवेश दे दिया, परन्तु विजय से उत्पन्न होने वाले अभिमान को हृदय में प्रवेश नहीं दिया।

काम्बोज को जीतने के पश्चात्, अश्वों के खुरों से उठे हुए गेरू आदि धातुओं के रज से शिखरों की ऊंचाई को मानो और अधिक बढ़ाते हुए राजा रघु ने हिमालय पर चढ़ाई बोल दी। सेनाओं के कोलाहल से जागे हुए गुफावासी सिंहों ने केवल गर्दन फेरकर बाहिर की ओर देखा, मानो कह रहे हों कि हम तुम से निर्बल नहीं, जो डरें। भूर्जपत्रों में मर्मर ध्वनि करने वाले और बांसों के जंगलों में गूंज पैदा करने वाले, गंगाजल के सम्पर्क से शीतल पवनों ने हिमालय की चोटियों पर रघु का स्वागत किया। उसके सैनिकों ने कस्तूरी के संसर्ग से सुगन्धित शिलाओं पर बैठकर और नमेरु वृक्षों की छाया में सुस्ताकर अपनी थकान को उतारा। वहां राजा की सेनाओं का पहाड़ी जातियों से युद्ध हुआ। उस युद्ध में फेंके गये बाणों और शिलाओं से जो घर्षण हुआ उससे आग की चिनगारियां चारों ओर फैल रही थीं। रघु से परास्त होकर उत्सवसंकेत लोग अपने उत्सवों को भूल गये और किन्नरगण उसीके विजयगीत गाने लगे। पहाड़ी लोग जब बहुमूल्य रत्नों की भेंट लेकर राजा की सेवा में उपस्थित हुए, तब राजा ने हिमालय की और हिमालय ने राजा की शक्ति को ठीक-ठीक पहिचाना। आगे कैलास पर्वत का मार्ग आरम्भ होता था। उसे तो रावण जैसा राक्षस भी हिला देगा, मानो इसी विचार से रघु ने उसे छोड़ दिया और हिमालय से नीचे उतर आया।

उसके पश्चात् रघु ने लौहित्य नदी को पार किया। तब तो प्राग्ज्योतिष् का राजा, और रघु के हाथियों के खूंटे बनने के कारण कालागुरु के वृक्ष एक साथ ही कांप गये। प्राग्ज्योतिष् का शासक विजेता के रथों से उठे हुए धूल से सूर्य को ढक देने वाले मेघों को भी नहीं सह सका, सेनाओं को तो सहता ही क्या। आगे बढ़ने पर कामरूप के राजा ने मस्त हाथियों की उन श्रेणियों की भेंट देकर देवताओं के राजा से भी अधिक पराक्रम वाले रघु का स्वागत किया, जिनसे वह अन्य विरोधियों का मार्ग रोका करता था। उसने विजेता के चरणों की रत्नरूपी फूलों से पूजा की। इस प्रकार, राज्यच्छत्र उतर जाने के कारण खुले हुए नरेशों के मस्तकों पर, अपने रथ से उठी हुई धूल का टीका लगाता हुआ रघु राजधानी को लौट आया। मेघों के समान सज्जन लोग जो कुछ लेते हैं, वह केवल देने के लिये। रघु ने भी विजययात्रा से लौट कर प्राप्त हुई अतुल सम्पत्ति का दान करने के लिये विश्वजित् (सर्वमेध) यज्ञ का आयोजन किया।

रघु के सर्वमेध यज्ञ में दूर-दूर देश के राजा एकत्र हुए। पराजित होने के कारण उनके हृदयों में जो थोड़ा-बहुत दुःख था, उसे विजेता ने मंत्रियों की सहायता से बढ़े-चढ़े आदर-सत्कार द्वारा शान्त कर दिया। यज्ञ के अन्त में रघु से अनुमति प्राप्त करके राजा लोग अपने घरों को वापिस चले गये, जिससे उनके परिवारों को चिर-वियोग के कारण हुई चिन्ता दूर हो गई। विदा होने के समय राजाओं ने रघु के रेखाध्वज वज्र और छत्र जैसे चक्रवर्ती चिन्हों से युक्त चरणों में सिर झुका कर नमस्कार किया तो उनके किरीटों से गिरे हुए फूलों के पराग से रघु के चरणों की अंगुलियां गौर हो गयीं।

———

पांचवां सर्ग

सर्वमेध यज्ञ

जिस समय 'विश्वजित्' यज्ञ में सर्वस्व दान करने के कारण सम्राट् रघु का खजाना बिल्कुल खाली हो चुका था, उस समय वरतन्तु आचार्य का शिष्य कौत्स अपनी शिक्षा समाप्त करके गुरु दक्षिणा की खोज में अयोध्या पहुंचा। सोने के सब बर्तन दिये जा चुके थे, इस कारण रघुने मिट्टी के बर्तन में अर्घ्य पेश किया। अर्घ्य-पाद्य आदि से उस तपस्वी का सत्कार करके मानियों के प्रमुख सम्राट् रघु ने उसे आसन पर बिठाया और हाथ जोड़ कर प्रश्न किया—

हे कुशाग्रबुद्धि मुनिवर, जैसे सारा संसार सूर्य से जीवन प्राप्त करता है, वैसे जिस मन्त्रवक्ताओं के अग्रणी ऋषिवर से तुमने सब विद्यायें प्राप्त की हैं, वह कुशल से तो हैं? देवताओं के अधिपति को हिला देने वाली महर्षि की त्रिविध तपस्या के मार्ग में कोई रुकावटें तो नहीं आतीं?

शरीर, वाणी और कर्म द्वारा देवताओं के राजा के आसन को हिला देने वाला जो त्रिविध तप महर्षि ने सञ्चित किया है, उस में कोई विघ्न-बाधायें तो उपस्थित नहीं होतीं ?

शीतल छाया द्वारा थकान उतारने वाले उन आश्रम के वृक्षों को, जिन्हें आश्रमवासियों ने आलवाल (थांवले) बनाकर तथा सब उपायों से सन्तान की तरह पाल-पोस कर बड़ा किया है, वायु आदि के उपद्रवों से हानि तो नहीं पहुँची ?

हरिणियों की जिस सन्तति को मुनिलोग अपने बच्चों से भी अधिक प्रेम करते हैं, जिनका जन्म मुनियों की गोद में ही होता है, और यज्ञादि के निमित्त से भी अलग नहीं किये जाते, वह कुशल से तो हैं ?

जिन पवित्र जलों से आप लोग दैनिक स्नानादि करते हैं, जिन अंजलियों से पितरों का तर्पण होता है, और जिनकी रेतीली तटभूमि (उंछ) शेष अन्न के षष्ठ भाग पर लगे हुए राजकर के चिन्हों से अंकित हैं, वे जल उपद्रवरहित तो हैं ?

जिन से आप अपना जीवन-निर्वाह, और समय समय पर आने वाले अतिथियों का पूजन करते हैं, उन नीवार श्यामाक आदि अन्नों को भुस की खोज में आने वाले गौ-भैंस आदि पालतू पशु तो नष्ट नहीं करते ?

महर्षि ने विद्या की समाप्ति पर आपको गुरुकुल से प्रसन्नता-पूर्वक घर जाने की अनुमति तो दी है ? क्योंकि अब वह समय आगया है, जब आप अन्यों का उपकार करने की योग्यता के कारण ज्येष्ठ आश्रम—गृहस्थाश्रम—में प्रवेश करें।

केवल आप के आने से मेरा मन सन्तुष्ट नहीं हुआ, मैं उत्सुक हूं कि आपके किसी आदेश का पालन भी करूं। आप ने

मुझ पर अनुग्रह किया है कि अपने गुरु की आज्ञा से अथवा स्वयं जंगल से पधार कर मुझे कृतार्थ होने का अवसर दिया है।

वरतन्तु मुनि के शिष्य कौत्स ने अर्घ्य के पात्र को देखकर ही अनुमान लगा लिया था कि रघु सर्वस्व दान कर चुका है। राजा को उदार वाणी सुनकर भी कौत्स की आशा हरी नहीं हुई और वह बोला—

हे राजन्, आश्रम में सब प्रकार से कुशल-मंगल है। शासन की बागडोर आप के हाथ में रहते प्रजा को कष्ट हो ही कैसे सकता है? जब सूर्य दमक रहा हो, तब प्राणियों की आंखों को अंधेरा कैसे ढक सकता है?

हे राजन्, पूज्यों के प्रति भक्ति की भावना रखना तुम्हारे कुल की प्रथा है। अपनी विशाल हृदयता के कारण तुमने अपने पुरुषाओं को भी मात दे दी है। मुझे इतना ही दुःख है कि मैं समय बीत जाने पर अपनी अभ्यर्थना लेकर यहां पहुँचा हूं।

हे नरेन्द्र, वनवासियों द्वारा अन्न निकाल लेने पर जैसे नीवार का खोखला स्तम्भ (सूखा पौदा) शोभायमान होता है, सत्पात्रों को सर्वस्व दान देकर तुम वैसे ही शोभायमान हो रहे हो।

चक्रवर्त्ती साम्राज्य प्राप्त करके आज दान के कारण तुम्हारी यह धनहीनता शोभा ही है। देवताओं द्वारा अमृत पिये जाने पर चन्द्रमा की क्षीणता, उसकी वृद्धि से कहीं अधिक प्रशंसनीय होती है।

सो राजन्, मैं किसी अन्य स्थान से गुरुदक्षिणा प्राप्त करने का यत्न करूंगा। मुझे तो इस समय इसके अतिरिक्त कोई कार्य नहीं हैं। भगवान् तुम्हारा कल्याण करें। बरस कर खाली हुए बादल से तो चातक भी पानी नहीं मांगता।

यह कहकर जब कौत्स विदा होने लगा तो राजा ने उसे रोक कर पूछा कि "हे विद्वन् आप यह तो बतलाइये कि गुरु की सेवा में आप को क्या वस्तु कितनी राशि में भेंट करनी है?"

विश्वजित् यज्ञ को सफलतापूर्वक पूर्ण करके भी अभिमान से शून्य, वर्णाश्रमों की रक्षा करने वाले उस क्षत्रपति के प्रश्न को सुनकर वह स्नातक रुक गया, और बोला—

"विद्याध्ययन समाप्त करके मैंने महर्षि से निवेदन किया कि मुझे गुरुदक्षिणा भेंट करने की आज्ञा दी जाय। गुरु ने मेरी चिरकाल तक की हुई भक्तिपूर्वक सेवा को पर्याप्त समझा तो भी मैं गुरु-दक्षिणा का आग्रह करता ही गया। इससे असन्तुष्ट होकर महर्षि ने कहा कि यदि तेरा ऐसा ही आग्रह है तो ग्रहण की हुई चौदह विद्याओं के बदले में चौदह करोड़ मुद्रायें गुरु-दक्षिणा के रूप में उपस्थित कर। हे राजन्, पूजा के मृण्मय पात्र से मैंने जान लिया है कि तुम्हारा केवल 'प्रभु' नाम ही शेष है, और मेरी मांग बहुत बड़ी है, इस कारण मैं तुमसे आग्रह करने का साहस नहीं कर सकता।"

वेदवेत्ताओं में श्रेष्ठ ब्राह्मण की इस प्रकार की बात सुनकर तेजस्वी और विद्वान् सम्राट् ने निवेदन किया—

"भगवन्, विद्यारूपी समुद्र को पार करके एक स्नातक गुरु-दक्षिणा की खोज में रघु के पास आया, और निराश होकर किसी दूसरे दानी के पास चला गया, यह अपकीर्ति मेरे लिए एक नयी वस्तु होगी जो मुझसे सहन नहीं हो सकेगी। सो आप दो तीन दिन तक मेरे यज्ञगृह में चतुर्थ अग्नि की भांति आदरपूर्वक निवास करने का अनुग्रह करें। इस बीच में मैं आपकी अभीष्ट धनराशि जुटाने का यत्न करता हूं।"

रघु के वचन को अटल प्रतिज्ञा के समान मानकर कौत्स

प्रसन्नतापूर्वक रुक गया । इधर यह सोचकर कि पृथ्वी का सार खेंच कर तो मैं दान कर चुका हूं, राजा ने कैलास के स्वामी कुबेर से अभीष्ट धनराशि खेंचने का संकल्प किया । जैसे वायु की सहायता प्राप्त होने पर अग्नि की गति अमोघ हो जाती है, उसी प्रकार वसिष्ठ मुनि के वरदान से रघु के रथ की गति न समुद्र में रुकती थी, न आकाश में मन्द होती थी और न पर्वतों पर ढीली पड़ती थी। उस रात रघु शस्त्रों से सुसज्जित रथ में ही सोया, मानो वह प्रातःकाल अपने किसी साधारण सामन्त को जीतने के के लिए प्रयाण करने वाला हो । जब प्रातःकाल सोकर उठा तो खजाने के रखवालों ने सूचना दी कि आज रात कोषगृह में आकाश से सोने की वर्षा हो गयी है। वह धनराशि इतनी थी कि मानो बिजली की चोट खाकर सुमेरू पर्वत की चट्टान टूट पड़ी हो। रघु ने वह सम्पूर्ण राशि कौत्स की सेवा में भेंट कर दी। अयोध्या के निवासी यह दृश्य देखकर आश्चर्यित और कृतकृत्य हो रहे थे कि याचक गुरुदक्षिणा की मात्रा से अधिक लेने से इन्कार करता था, और दाता कुबेर से प्राप्त धनराशि देने पर तुला हुआ था।

राजा ने वह धनराशि सैकड़ों ऊंटों और खच्चरों पर लादकर कौत्स के सुपुर्द करते हुए झुक कर प्रणाम किया । सन्तुष्ट होकर विद्वान् ब्राह्मण ने राजा को आशीर्वाद दिया—"राजन्, तुम जैसे प्रजा का पालन करने वाले शासक के लिए पृथ्वी कामधेनु हो, यह तो स्वाभाविक ही है, परन्तु तुम्हारा प्रभाव अचिन्तनीय है, जिस ने आकाश को भी दुह लिया । संसार की सब विभूतियां तुम्हें प्राप्त हैं, अन्य जो भी शुभकामना की जायगी वह पुनरुक्तिमात्र होगी, इस कारण मेरा इतना ही आशीर्वाद है कि जैसे तुम्हारे योग्य पिता ने तुम्हें प्राप्त किया था वैसे ही तुम भी अपने अनुरूप पुत्र प्राप्त करो ।"

इस प्रकार आशीर्वाद देकर गुरुदक्षिणा के साथ ब्राह्मण गुरु के पास चला गया। जैसे संसार सूर्य से प्रकाश प्राप्त करता है, वैसे राजा ने भी भगवान् की दया से पुत्ररत्न प्राप्त किया।

महारानी ने ब्राह्ममुहूर्त्त में स्कन्द के समान तेजस्वी कुमार को प्राप्त किया, इस कारण सम्राट् ने उसका नाम ब्रह्मा के नाम पर "अज" रखा।

अज में वही तेजस्वी रूप, वही बल और वही स्वाभाविक उदार-भाव था। कुमार अपने कारण—पिता—से उसी प्रकार अभिन्न था, जैसे दिये से जला हुआ दिया। जब गुरुओं से विधिपूर्वक प्राप्त की हुई शिक्षा और युवावस्था के प्रभाव से अज पूर्ण रूप से सुन्दर और गम्भीर हो उठा, तब यद्यपि राज्यश्री उसके गले में हार पहिनाने को उत्सुक थी, तो भी लज्जाशील कन्या की तरह पिता की अनुमति की प्रतीक्षा कर रही थी। उस समय क्रथकैशिक (विदर्भ) के राजा भोज के विद्वान् दूत ने रघु के पास आकर निवेदन किया कि राजकुमार अज को पुत्री इन्दुमती के स्वयंवर में भाग लेने के भेजिये। सम्बन्ध उत्तम है और लड़के की अवस्था विवाह के योग्य हो गई है, यह विचार कर राजा ने अज को सेनाओं के साथ धन-धान्य से भरी हुई विदर्भ देश की राजधानी की ओर रवाना कर दिया। मार्ग में युवराज ने जहां पड़ाव किये, वहां राजाओं के योग्य बहुमूल्य तम्बुओं के महल बनाये गये थे, जिनमें नगरों से लाकर उत्तमोत्तम सामग्री इकट्ठी की गयी थी और जिन्हें वाटिका और विहारस्थानों से सुखकारी बनाया गया था। उसका एक पड़ाव नर्मदा नदी के तीर पर हुआ, जहां मार्ग की धूल से सनी हुई सेनाओं को नदी जल से आर्द्र, और नक्तमाल के स्पर्श से ठण्डे पवन से शान्ति प्राप्त हुई

जब नर्मदा के तट पर अज का डेरा पड़ा हुआ था, तब एक जंगली हाथी, जिसके गण्डस्थल जल से धुल जाने के कारण

निर्मल हो गये थे, परन्तु पानी के ऊपर मंडराते हुए भौंरों को देखकर यह सूचित होता था कि पानी में जाने से पूर्व उसके मस्तक से मद बह रहा था, नदी के जल से निकलता दिखाई दिया। उसके मद की तीव्र बास से परास्त हुए सेना के हाथी, हाथीवानों के हाथ से निकलने लगे। उसके भय से, सेना के वाहन रस्सी तुड़ा कर भागने लगे, जिससे रथ उलट कर टूटने लगे और सिपाही लोग स्त्रियों की रक्षा में व्यस्त हो गये। इस लोकप्रथा का आदर करते हुए कि जंगली हाथी राजा के लिए अवध्य है, अज ने केवल उसे रोकने के लिए धनुष की प्रत्यंचा को हलका सा खेंच कर उसके कुम्भस्थल पर तीर मारा। आश्चर्य से चकित सेनाओं ने देखा कि तीर से बिद्ध होकर उस हाथी का रूप बदल गया, और वह चमचमाते तेज के मण्डल से घिरे हुये आकाशवासी गन्धर्व के रूप में दिखलाई देने लगा। उसने पहिले राजकुमार पर कल्पद्रुम के फूलों की वर्षा को, और फिर निवेदन किया—

"हे राजकुमार, मैं प्रियदर्शन नाम के गन्धर्वराज का पुत्र प्रियंवद हूं। मेरे दुरभिमान से रुष्ट होकर मतंग मुनि ने मुझे शाप दे दिया, जिससे मुझे हाथी का रूप धारण करना पड़ा। शाप मिलने पर मैंने अनुनय-विनय किया तो वह नर्म हो गये। पानी चाहे आग और धूप के संयोग से नर्म हो जाय, वह स्वभाव से तो शीतल ही है। शान्त होकर तपस्वी ने शाप को नर्म करते हुए कहा कि इक्ष्वाकु 'श का राजकुमार अज जब बाण से तेरे मस्तक को छेद देगा, तब तुझे अपना शरीर वापिस मिल जायगा। सो तुमने मुझे शाप से छुड़ा दिया, मुझ पर यह बड़ा उपकार किया। इसके बदले में यदि मैं कोई प्रत्युपकार न करूं, तो मेरा निज रूप में आना व्यर्थ ही होगा।' मित्र, मेरे पास सम्मोहन नाम का गन्धर्व अस्त्र है, जिसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि शत्रु की हिंसा नहीं करनी पड़ती और जीत हाथ में आ जाती है। यह अस्त्र मैं

तुम्हें देता हूं। इसमें कोई लज्जा की बात नहीं है। तुमने तीर का प्रहार करते हुए मुझ पर मुहूर्त्त भर जो दया का भाव प्रदर्शित किया, उसने मेरे हृदय में अपनावट पैदा कर दी है। कृपया इस भेंट को लेने से इन्कार न करना।"

राजकुमार ने प्रियंवद की बात स्वीकार कर ली, और पूर्वाभिमुख हो, नर्मदा के जल का आचमन करके सम्मोहनास्त्र ग्रहण किया। इस प्रकार दैव ने उन दोनों को मार्ग में मिलाकर मित्र बना दिया। अस्त्र-ग्रहण के पश्चात् एक चैत्ररथ नाम के गन्धर्वों के निवासस्थान की ओर चला गया, और दूसरे ने उत्तम शासन के कारण सुखी और समृद्ध विदर्भ देश की दिशा में प्रस्थान किया।

जब अज विदर्भ की राजधानी के पास पहुँचा, तो जैसे लहरों की भुजाओं को बढ़ाकर समुद्र चन्द्रमा का स्वागत करता है, वैसे क्रथकैशिकेन्द्र (विदर्भराज) ने प्रसन्न हृदय से उसका स्वागत किया। विदर्भराज भोज ने नगर-प्रवेश के समय ऐसी नम्रता से व्यवहार किया, जिससे सब अभ्यागत लोगों ने अज को गृहस्वामी और भोज को अतिथि समझा।

वहां पहुँचकर अधिकारपुरुष (ऊंचे राजकर्मचारी) राजकुमार को जिस नवनिर्मित और सुन्दर राजमहल में ठहराने के लिए ले गये, उसके पूर्व द्वार पर जल से भरे हुए घड़े स्थापित किये गये थे। उस भवन में अज ऐसा शोभायमान हुआ मानो साक्षात् कामदेव युवावस्था में निवास कर रहा हो।

रात्रि के समय राजकुमार को बहुत मीठी नींद आयी। उषःकाल में वैतालिक लोगों ने मधुर और प्रगल्भ स्तुतियों द्वारा उसका उद्बोधन किया। उन्होंने कहा—"रात समाप्त हो गयी। हे बुद्धिमानों के शिरोमणि! अब बिस्तर को छोड़िये; इस पृथ्वी का बोझ विधाता ने दो कन्धों पर रखा है। एक कन्धा तुम्हारे सदा

जागरूक गुरु (पिता) का है, और दूसरा तुम्हारा । देखो, अभी भगवान् भास्कर आकाश में अवतीर्ण भी नहीं हुए कि उनके सारथि अरुण ने अन्धकार को छिन्न-भिन्न कर दिया। ठीक भी है । हे वीर, जब तुम मैदान में उतर आओ, तो तुम्हारे गुरु को हथियार उठाने की क्या आवश्यकता है । राजकुमार, कल सायंकाल तैयार किये गये फूलों के हार बिखर रहे हैं, दीपक की जोत मन्द पड़ गयी है, और पिंजर में बन्द तुम्हारा सुग्गा हमारे प्रबोध वाक्यों को मीठे गले से दोहरा रहा है । अब उठो ।"

इस प्रकार स्तुतिवाक्यों से अज की नींद टूट गयी और वह बिस्तर छोड़कर उठ बैठा। उठ कर शास्त्रोक्त रीति से उसने नित्य-कर्मों का अनुष्ठान किया । कुशल परिचारकों ने उसे सभा के योग्य वेष-भूषा से परिष्कृत किया, जिसके पश्चात् वह नियत समय पर स्वयंवर के मण्डप की ओर प्रस्थित हुआ।

———

छठा सर्ग

इन्दुमती का स्वयंवर

स्वयंवर के मण्डप में पहुंच कर राजकुमार ने सुन्दर वेषवाले क्षत्रियों को विमान पर आरूढ़ देवताओं के समान शोभायमान देखा। राजाओं ने जब कामदेव के सदृश सुन्दर अज को देखा तो उनके मन में इन्दुमती की ओर से निराशा उत्पन्न हो गई। जैसे शेर का बच्चा शिलाओं पर कदम रखता हुआ पर्वत की चोटी पर चढ़ जाता है, वैसे सम्राट् रघु का राजकुमार भी शानदार सीढ़ियों से होकर राजा भोज द्वारा निर्दिष्ट सिंहासन पर विराजमान हो गया। सिंहासन रत्नों से जगमग हो रहा था और उस पर बहुमूल्य रंग-बिरंगे कालीन बिछे हुए थे। उस पर आसीन कुमार ऐसे शोभायमान हो रहा था, जैसे मोर की पीठ पर बैठा हुआ सेनानी गुह। जैसे अनेक मेघों में भिन्न-भिन्न रूप से एक ही बिजली दमकती दिखाई देती है, वैसे ही उन उपस्थित नरेशों में मानो एक ही राज्यश्री अनेक रूपों में छिटक रही थी। बहुमूल्य

आसनों पर विराजमान उन राजाओं की श्रेणि में सम्राट् रघु का कुमार कल्पवृक्षों में पारिजात के समान देदीप्यमान हो रहा था। जब उपवन में कोई मदमस्त हाथी आ जाय, तो गन्ध से खिंचे हुए भौंरे फूलों को छोड़कर उसी की ओर खिंच जाते हैं। नगरवासियों की आंखें भी अज के पहुंचने पर सब क्षत्रियों को छोड़कर उसी की ओर आकृष्ट हो गयीं।

इस प्रकार सूर्य और चन्द्रवंशी राजाओं के एकत्र हो जाने पर वंश-परम्परा से अभिज्ञ बन्दिजनों नव अभिनन्दन किया। धूप बत्तियों के जलने से उठा हुआ धुंआ पताकाओं की चोटियों को छूने लगा, और नगर के समीप उपवनों में रहने वाले मोरों को नचा देने वाला प्राभातिक शंख आकाश को गुंजाने लगा। मंगलाचरण समाप्त होने पर, मनुष्यों द्वारा उठाई जाने वाली चौकोर पालकी में, परिजनों द्वारा घिरी हुई, पति के वरण की इच्छा रखने वाली स्वयंवर वेषधारिणी राजकुमारी इन्दुमती ने मंडप के राजमार्ग में प्रवेश किया। सैकड़ों आंखों की एक लक्ष्य, विधाता की उस अद्भुत रचना के सम्मुख आने पर सब नरेश अन्तःकरणों से उसके समीप जा पहुंचे, सिंहासनों पर तो केवल उनके शरीर ही रह गये।

तब राज वंशों के इतिहास से परिचित, पुरुष के समान प्रगल्भ प्रतिहारी सुनन्दा इन्दुमती को मगध देश के राजा के समीप ले जाकर बोली– "यह मगध देश का राजा परन्तप जैसा नाम वैसे गुणों वाला है। शत्रुओं का काल है, शरणार्थियों को शरण देने वाला है और स्वभाव से गम्भीर है। प्रजा का रंजन करने के कारण उसने यश प्राप्त किया है। शासक तो अनेक हैं, परन्तु भूमि को राजन्वती कहलाने का सौभाग्य इसी से प्राप्त है। आकाश में अनगिनत ग्रह— नक्षत्र हैं, परन्तु रात्रि चन्द्र के कारण ही उजली समझी जाती है। इस राजा के द्वारा यज्ञों में निरन्तर निमन्त्रित होने के कारण इन्द्र को बहुत समय

तक स्वर्गलोक से अनुपस्थित रहना पड़ता था, फलतः पति वियोग में महारानी शची के सुन्दर केश कपोलों तक लटक गये और मन्दार पुष्पों से शून्य हो गये। यदि तुम चाहती हो कि यह श्रेष्ठ पुरुष तुम्हारा पाणिग्रहण करे, तो पुष्पपुर* में प्रवेश के लिए उद्यत हो जाओ, जहां प्रवेश के समय नगर की सुन्दरियां महलों के झरोखों में बैठकर तेरे दर्शनों से अपने नेत्रों को आनन्दित करेंगी।"

सुनन्दा के वचन सुनकर इन्दुमती ने मुंह से तो कोई उत्तर नहीं दिया, केवल परंतप की ओर देख कर, हल्का सा प्रणाम कर दिया जिसका अभिप्राय था कि नहीं।

जैसे वायु के वेग से उठी हुई जल की लहर मानस सरोवर की राजहंसी को एक कमल से दूसरे कमल के पास पहुंचा देती है, उसी प्रकार वह दौवारिक सुनन्दा राजकुमारी को परंतप के पास से हटाकर दूसरे राजा के समीप ले गई और बोली—

"यह अंग देश का राजा है। अप्सरायें इसके यौवन पर लट्टू हैं। प्रसिद्ध महावतों द्वारा सधाए हुए हाथियों की विभूति के कारण यह ऐरावत के स्वामी इन्द्र के सदृश ऐश्वर्य का उपभोग कर रहा है। इसके पराक्रम ने, पराजित शत्रुओं की स्त्रियों के गले में मोतियों के समान स्थूल आंसुओं की मालायें डालकर बिना सूत्र के ही हार पहिना दिये हैं। श्री और सरस्वती स्वभाव से एक दूसरे के संग नहीं रहतीं, इसने अपने गुणों से दोनों को वश में कर लिया है। शरीर के सौन्दर्य और सत्य तथा प्रियवाणी के कारण हे इन्दुमति, तुम ही इसके योग्य हो।"

सुनन्दा के वाक्य की समाप्ति पर इन्दुमती ने अंगराज पर से आंख हटाकर कहा—'आगे चल'। इससे यह न समझना चाहिए कि अंगराज सुन्दर नहीं था, और न ही यह बात थी कि इन्दुमती में पहिचानने की शक्ति न हो। तो भी इन्दुमती उसे छोड़ गई। संसार

* पाटलीपुत्र

में सब की रुचि भिन्न-भिन्न है।

उससे आगे सुनन्दा इन्दुमती को नवोदित चन्द्र के समान सुन्दर और आकर्षक अवन्तिनाथ के सामने ले गयी, और कहने लगी—

"यह विशाल वक्षःस्थल और संकुचित कटि भाग से सुशोभित महाबाहु अवन्ति का शासक है। इसके तेजस्वी शरीर को देखकर प्रतीत होता है कि विधाता ने सूर्य को चक्र पर चढ़ाकर उसकी रचना की है। इसकी विजययात्रा में सेना के घोड़ों की टाप से उठी हुई धूलि शत्रुओं के मुकुटों की मणियों पर बैठकर, इसके पहुँचने से पूर्व ही उन्हें आभाहीन कर देती है। यह महाकाल के निवासी भगवान् चन्द्रमौलि महादेव के समीप ही रहता है, इस कारण अंधेरी रातों में भी यह चांदनी से चमकती हुई रातों का सा अनुभव करता है। यदि इस नौजवान राजा के साथ, सिप्रा नदी के जलों का स्पर्श करने वाले वायु से प्रकम्पित उद्यानों में विहार करने का विचार हो तो, हे सुन्दर राजकुमारि, मुझे बता दो।"

अवन्तिनाथ अपने तेज से मित्ररूपी पद्मों को विकसित करने वाला, और शत्रु रूपी कीचड़ को सुखा देने वाला होने के कारण सूर्य के समान तेजस्वी था, परन्तु जैसे सुकोमल कुमुदिनी उसे पसन्द नहीं करती, वैसे इन्दुमती का हृदय भी उसकी ओर नहीं झुका। तब सुनन्दा इन्दुमती को आगे ले जाकर अनूपराज का परिचय देने लगी—

"ब्रह्मज्ञानी राजा कार्तवीर्य का नाम तुमने सुना होगा। जब वह संग्राम–भूमि में उतरता था, तब शत्रु उसे सहस्त्रबाहु सा अनुभव करते थे। उसने अठारहों द्वीपों में अपने यज्ञों के यूप गाड़ दिये थे। प्रजा रंजन के कारण "राजा" यह विशेषण उसमें असाधारण रूप से अन्वर्थक जंचता था। प्रजा पर उसका ऐसा आतंक था कि मन में अपराध का विचार आते ही धनुर्धारी राजा की मूर्ति मन के सामने आ जाती और मानसिक अपराध भी रुक जाता था। जिस रावण ने इन्द्र को भी जीत लिया था, उसे राजा कार्तवीर्य के कारागृह में तब तक

बन्दी रहना पड़ा था, जब तक राजा का अनुग्रह नहीं हुआ। कारागृह रावण की भुजायें धनुष की प्रत्यन्चा से बंधी हुई थीं, और मुखों से निरन्तर जोर जोर के सांस निकल रहे थे। उसके वंश में वेदवेत्ताओं की सेवा करने वाले इस 'प्रतीप' नामक राजा ने जन्म लिया है, जिसने अपनी दृढ़ता के कारण श्री का चंचलता का अपयश धो दिया है। इस तपस्वी ने तपस्या द्वारा अग्निदेवता को प्रसन्न कर के सहायता का वर प्राप्त किया है। उसके प्रभाव से क्षत्रियों के संहारकर्त्ता परशुराम के परशु की धारा को यह कमलपत्र की धारा से अधिक कोमल समझता है। यदि माहिष्मती नगरी की चारदीवारी के चारों ओर कमरबन्द की तरह लिपटी हुई और केशवेणि के समान लहरें खाते हुए जल-प्रवाह से सुन्दर रेवा नदी को देखने की इच्छा है, तो तुम इस राजा की गृहलक्ष्मी बन जाओ।" वह देखने में सुन्दर राजा भी इन्दुमती को पसन्द नहीं आया। बादलों के हट जाने से निर्विघ्न चमकने वाला सोलह कलाओं से युक्त चन्द्रमा भी कमलिनी को खिलाने में समर्थ नहीं होता।

तब वह अन्तःपुर की रक्षिका सुनन्दा, राजकुमारी को आचार की शुद्धता के कारण माता और पिता दोनों के वंशों की ख्याति को चमकाने वाले देश देशान्तर में प्रसिद्ध शूरसेन देश के राजा सुषेण के समीप ले जाकर बोली— "मुनियों के आश्रम में सिंह और गौ जैसे स्वभाव से विरोधी जीव आपस का विरोध छोड़ देते हैं वैसे ही नीप वंश के अंकुर इस यज्ञपरायण राजा में इकट्ठे होकर अनेक परस्पर-विरोधी गुणों ने विरोधभाव छोड़ दिया है। इस राजा की जो कान्ति अपने घर में चांद की चांदनी की तरह शीतल होकर फैल रही है वही परास्त होने के कारण सुनसान हुए शत्रुओं के घरों में असह्य तेज बनकर चमकती है। यमुना का जल अन्य सब स्थानों पर काला है, परन्तु इस राजा की नगरी मथुरा के पास जब राज-परिवार की स्त्रियां उस में

स्नान करती हैं , तो उनके स्तन-चन्दन के कारण वह धौला हो जाता है जिससे प्रतीत होने लगता है कि मानो वही यमुना और गंगा का संगम हो गया है। गरुड़ से डरे हुए यमुना-तटवासी कालियसर्प के द्वारा दिए हुए मणि को छाती पर धारण करके यह राजा सुषेण शोभा में कौस्तुभधारी कृष्ण को भी मात दे रहा है। हे राजकुमारि, यदि तुम कुवेर की वाटिका से भी अधिक सुन्दर वृन्दावन में कोमल पल्लवों से ढकी हुई पुष्पशय्या पर विश्राम करने का विचार रखती हो तो अपनी यौवनश्री इस युवा को समर्पित करो। तुम वहां वर्षा ऋतु में, गोवर्धन पर्वत की सुन्दर कन्दराओं में, जल-कणों से भीगे हुए पहाड़ी फूलों से सुगन्धित शिलातलों पर, मोरों का मनोहारी नाच देखोगी।"

जैसे समुद्र की ओर बहने वाली नदी मार्ग में आये हुए ऊंचे पर्वतों को लांघ जाती है, वैसे ही इन्दुमती उस वीर राजा को भी छोड़कर आगे चली गयी।

आगे कलिङ्ग के राजा हेमाङ्गद का आसन था। उसकी भुजाओं पर केयूर शोभायमान हो रहा था। सुनन्दा उसे लक्ष्य करके इन्दुमती से बोली—

"महेन्द्र पर्वत के समान विशाल और दृढ़ यह राजा महेन्द्र पर्वत और समुद्र का स्वामी है। जब इसकी सेनायें विजय-यात्रा के लिए चलती हैं, तब मद की धारा बहाते हुए हाथी उसके आगे आगे चलते हैं, मानो नदियों को साथ लिए महेन्द्र पर्वत स्वयं मार्ग-प्रदर्शन कर रहा हो। इस धनुर्धारी की भुजाओंपर निरन्तर धनुश्चालन के कारण प्रत्यंचा के निशान पड़ गये हैं, मानो इसके मारे गये शत्रुओं की स्त्रियों के कज्जल सहित आंसुओं की धाराओं के चिन्ह हों। इसके प्रासाद के नीचे फैला हुआ समुद्र, प्रातःकाल प्रासाद के रोशनदान में से दिखाई देती हुई लहरों की गम्भीर

ध्वनि से इसे जगा देता है, जिससे अन्य किसी प्राभातिक वाद्य की आवश्यकता नहीं रहती। इसके साथ तुम ताड़ के पत्तों के मर्मर शब्द से युक्त समुद्र तटों पर विहार करो, जहां अन्य द्वीपों से उड़ाकर लाये हुए लवङ्ग पुष्पों से सुगन्धित वायु तुम्हारे पसीने की बूंदों को सुखा देगी।" जैसे दैव के प्रतिकूल होने पर कुशल से कुशल नीतिज्ञ राजलक्ष्मी को अपने अनुकूल नहीं बना सकता, वैसे ही सुनन्दा के बहुत लुभाने वाले वाक्य भी इन्दुमती को हेमाङ्गद की ओर आकृष्ट न कर सके।

सुनन्दा इन्दुमती को आगे ले गयी, जहां उरग नामक नगर का सुन्दरता में देवताओं के समान राजा विराजमान था, और बोली—"राजकुमारि, इधर देखो, यह पाण्डु देश का राजा पाण्ड्य है। इसकी चन्दन से सुशोभित छाती पर लम्बे लटकते हुए हार ऐसे दमक रहे हैं, मानो प्रातःकाल की सूर्य-किरणों से लाल-लाल दीखने वाली हिमालय की हिमाच्छादित चोटियों पर से गिरता हुआ जल-निर्झर हो। विन्ध्य पर्वत को सूर्य के मार्ग में अड़ने से रोकने वाले तथा समुद्र को सुखाकर भर देने वाले ऋषि अगस्त्य अश्वमेध की समाप्ति पर स्नान से निवृत्त हुए इस यशस्वी क्षत्रिय से प्रेमपूर्वक कुशल समाचार पूछने आते हैं। अभिमान से भरा हुआ लङ्कापति रावण जब इन्द्रलोक को जीतने के लिए उत्तर की ओर जाने लगा, तब इस आशङ्का से कि कहीं पीछे जनस्थान प्रदेश पर अधिकार न जमा ले, वह पाण्ड्य से सन्धि करने के लिये बाधित हुआ था। हे राजकुमारि, इस महाकुलीन राजा का पाणि-ग्रहण करके तुम रत्नों की लड़ी से सुभूषित समुद्ररूपी कमरबन्द वाली दक्षिण दिशा की सपत्नी बन जाओगी। यदि तुम पाण्ड्य का वरण करो तो तुम्हें मलय पर्वत के ताम्बूल (पान) की बेलों द्वारा आलिंगित पूगों (सुपारी), इलायची की लताओं द्वारा परि-वेष्टित चन्दनों और तमाल (तमाखू) के पत्रों से बने हुए आस्तरणों

से अलंकृत प्रदेशों में विहार करने का अवसर मिलेगा। नील कमल के समान, नीली छवि वाला यह राजकुमार और रोचना के सदृश गोरे रंग की तुम, जैसे बिजली और काले बादल की शोभा एक दूसरे से बढ़ती है, ऐसे तुम्हारी भी बढ़ेगी।"

सुनन्दा ने पाण्ड्य के सम्बन्ध में जितने उपदेश दिये, इन्दुमती के हृदय पर उनमें से एक का भी प्रभाव न पड़ा, जैसे सूर्य के आदर्शन से बन्द हुए नलिनी के फूल को खोलने में चन्द्र की किरणें समर्थ नहीं होतीं। वह पतिंवरा राजकुमारी चलती हुई दीपशिखा के समान जिस-जिस राजा के पास से गुजरती जाती थी, राजमार्ग के दोनों ओर बने हुए विशाल भवनों की तरह उसी पर अंधेरा छाता जाता था।

जब इन्दुमती रघु के समीप पहुंची तब दिल यह सोचकर धड़कने लगा कि यह मेरा वरण करेगी या नहीं, किन्तु उस समय उसकी दक्षिण भुजा के केयूरबन्ध स्थान में जो फरकन पैदा हुई उसने उसके सन्देह को दूर कर दिया। उस सर्वांग सुन्दर क्षत्रिय कुमार के सामने जाकर राजकुमारी रुक गयी। फूले हुए सहकार के पौदे को पाकर भौंरों की पंक्ति अन्य पौदों के समीप नहीं जाती।

जब सुनन्दा ने देखा कि राजकुमारी का मन अज की ओर आकृष्ट हो गया है, तब वह राजवंशों के वृत्तान्त में प्रवीण प्रतिहारी विस्तार सहित यों कहने लगी—

"इक्ष्वाकु के वंश में ककुत्स्थ नाम का एक वीर उत्पन्न हुआ, जो राजाओं में ककुद के समान उन्नत और श्रेष्ठ था और चक्रवर्ती लक्षणों से युक्त था। उत्तरकोसल देश के शासक उसी वीर के नाम से काकुत्स्थ कहलाते हैं। उस महा-पराक्रमी ककुत्स्थ के वंश में यशस्वी और कुल को रोशन करने वाले उस राजा दिलीप ने जन्म लिया, जिसने निन्यानवें राजसूय यज्ञ करके सौ वां यज्ञ केवल इसलिए अधूरा छोड़

दिया कि देवताओं के राजा इन्द्र के मन को पीड़ा न पहुंचे। उसके राज्यकाल में नाचने वाली स्त्रियां जब थककर क्रीड़ा - स्थान के मध्य-मार्ग में सो जाती थीं, तब वायु का भी साहस नहीं होता था कि उनके कपड़ों को हिलाये, हाथ तो डाल ही कौन सकता था ? उस राजा दिलीप का पुत्र रघु अब शासन कर रहा है। सम्राट रघु ने दिग्विजय करके विश्वजित् नामक यज्ञ को पूर्ण किया और यज्ञ की समाप्ति पर चारों दिशाओं से एकत्र हुई विभूति का दान कर दिया, जिससे उसके पास केवल मिट्टी के बर्त्तन शेष रह गये। उसका यश आज पृथ्वी की सीमाओं को पार कर गया है। वह पहाड़ों से ऊंचा चला गया है, समुद्रों से पार हो गया और पाताल को छेदकर उससे भी नीचे फैल गया है। जैसे स्वर्ग के स्वामी इन्द्र का जयन्त नाम का पुत्र है, उसी प्रकार यह कुमार राजा रघु का तेजस्वी उत्तराधिकारी है, जो पिता को शासनभार के उठाने में समान रूप से सहायक हो रहा है। कुल, कान्ति, चढती आयु और अनेक विद्या, शील आदि गुणों में वह तुम्हारे समान है। हे राजकुमारि, तुम उसके गले में वरमाला पहिना दो। हीरा स्वर्ण से मिल जाय।"

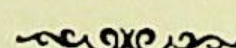
सुनन्दा का वचन समाप्त होने पर नैसर्गिक लज्जा को दबा कर इन्दुमती ने प्रसन्न और निर्मल दृष्टि से कुमार अज को इसप्रकार स्वीकार कर लिया, मानो वरमाला पहिना दी हो। राजकुमारी वहां मुग्ध सी होकर खड़ी रह गयी। कुलीनता के कारण मुंह से कुछ न कह सकी। उसके मन की अभिलाषा का अनुमान केवल शरीरव्यापी रोमांच से हो रहा था। यह देखकर प्रतिहारी ने सखीभाव से परिहास करते हुए कहा — "आर्ये, चलो आगे चलें।" इस पर रोषभरी दृष्टि से सुनन्दा की ओर देखा और उसे निर्देश किया कि राजकुमार के कण्ठ में वरमाला डाल दे। धात्री सुनन्दा ने शरीरधारी प्रेम के सदृश मङ्गली सिन्दूर से रक्तवर्ण हुई माला को अज के गले में पहिना दिया। विशाल वक्षःस्थल तक लटकने वाले उस मङ्गलमय पुष्पों के हार को पहिन कर

राजकुमार ऐसा अनुभव करने लगा मानो विदर्भराज की कन्या की कोमल भुजायें उसके गले का स्पर्श कर रही हों।

उस दृश्य से अत्यन्त प्रसन्न होकर विदर्भ के निवासी कहने लगे कि मेघों से मुक्त उज्ज्वल चन्द्रमा को चांदनी प्राप्त होगयी और शीतल समुद्र में भगवती गंगा अवतीर्ण हो गयी। ये वाक्य स्वयंवर में उपस्थित अन्य राजाओं को बहुत कडुवे प्रतीत हुए। उस समय वहां एक ओर स्वयंवर के सुन्दर परिणाम से कन्या-पक्ष के लोग बहुत प्रमुदित हो रहे थे, तो दूसरी ओर निराश राजाओं के मनों में जलन पैदा हो रही थी। स्वयंवर-मण्डप की दशा उस तालाब की सी हो रही थी, जिसमें उषःकाल में इधर कमलिनी खिल रही हो, और उधर कुमुदिनी मुरझा रही हो।

———

सातवां सर्ग



तपोवन में प्रयाण

विदर्भ का राजा भोज, स्वयंवर की समाप्ति पर अपनी बहिन इन्दुमती को लेकर राजधानी की ओर प्रस्थित हुआ। प्रातःकाल के चांद तथा अन्य नक्षत्रों के समान मुरझाए हुए चेहरों को लिए, निराश भूपति लोग भी अपने-अपने डेरों को रवाना हो गये। स्वयंवर में स्वर्ग के स्वामी इन्द्र की पत्नी शची स्वयं उपस्थित थी, इस कारण क्रोधी होने पर भी राजा लोग शान्त रहे। उधर वर (राजकुमार अज) वधू (इन्दुमती) के नये सजावट के सामान से सुशोभित, इन्द्रधनुष के समान रंग बिरंगे अर्धचन्द्राकार तोरणों से युक्त उस राजमार्ग पर पहुँचे, जहां दोनों ओर लगी हुई ध्वजाओं छत्र बनकर धूप को रोक रखा था। सोने के झरोखों वाली हवेलियों पर से उस सुन्दर युगल को देखने के लिए नगर की महिलायें इस प्रकार व्यस्तता प्रकट कर रही थीं।

किसी कामिनी का केशपाश गवाक्ष पर जाने की घबराहट में

खुल गया, उस पर लिपटी हुई माला का बन्धन भी टूट गया। पर वह तब तक उन्हे बांध न सकी और हाथ से ही रोके रही जब तक वह गवाक्ष पर न पहुंच गयी। कोई सुन्दरी पांव में द्रवराग (महावर) लगा रही थी, इतने में वर-वधू की सवारी राजमार्ग पर आगयी। सुन्दरी एकदम तेज़ी से झरोखे की ओर चल पड़ी, जिससे फर्श पर लाक्षा रस की लाल रेखा खिंच गयी। किसी ने अभी अपनी दाहिनी आंखमें अंजन लगाया था, बाईं आंख में शलाका उठाई ही थी कि देखने के लिये खिड़की के पास जाना पड़ा, शलाका हाथ में ही रह गयी। इसी प्रकार वर वधू को देखने की उत्सुकतामें नगर की रमणियां अपनी वेष-भूष और वस्त्राभरणों तक की सुध भूल कर खिड़कियों पर आ गयीं। उनके सुगन्धित मुखों और चंचल नेत्रों को देखकर प्रतीत होता था कि मानो कमलनियों पर भौंर मंडरा रहे हों। जब वह रमणियां अज को देख रही थीं, तब उनका ध्यान और किसी ओर नहीं था। प्रतीत होता था कि अन्य सब इन्द्रियों की वृत्ति भी पूर्णरूप से चक्षुओं में ही प्रवेश कर गयी है।

राजकुमारी ने अच्छा ही किधा कि दूर से ही विवाह के प्रस्ताव भेजने वाले राजकुमारों को छोड़कर स्वयंवर से पति का वरण किया अन्यथा लक्ष्मी के सदृश राजकुमारी नारायण के सदृश रघुकुमार को कैसे पाती? यदि विधाता इस सुन्दर जोड़े को आपस में न मिलाता तो उसका रूप निर्माण का प्रयत्न व्यर्थ हो जाता। प्रतीत होता है कि राजकुमारी ने किसी पूर्व-जन्म की स्मृति से ही राजकुमार का वरण किया है अन्यथा सहस्रों राजाओं का जमाव होने पर भी यह कामदेव और रति की जोड़ी कैसे मिल जाती? नगर-सुन्दरियों की इस प्रकार की मधुर बातें सुनता हुआ राजकुमार मंगलसूचक विधि-विधानों से सजे हुए श्वशुर के महल के द्वार पर पहुंचा।

द्वार पर पहुंच कर राजकुमार अज हथिनी पर से उतरा तो

कामरूप के राजा ने उसे सहारा दिया, विदर्भ का राजकुमार उसे मार्ग दिखलाता चला, और जैसे राजधानी की नारियों के हृदयों में प्रवेश कर गया था, उसी प्रकार चत्वर(आंगन)में प्रविष्ट हुआ। वहां विवाह मण्डप में बहुमूल्य सिंहासन हुआ था, अज उस पर विराजमान हुआ। रत्न जटित पात्र में उसे मधुपर्क और अर्घ्य पेश किया गया, और वधू के पिता की ओर से दुपट्टों का जोड़ा पेश किया गया।

महिलाओं की दृष्टियों के साथ ही उसने इन सब वस्तुओं को भी सादर ग्रहण कर लिया। जैसे पूर्णचन्द्र की किरणों से फेनिल समुद्र के जल को उकसा कर बेला (समुद्रतट) के पास ले जाती है, वैसे ही अन्तःपुर के विनीत परिजन दुकूलधारी वर को वधू के समीप लेगये। वहां भोज देश के राजा ने पहले तेजस्वी पुरोहित की विधिपूर्वक पूजा की। फिर पुरोहित ने यज्ञकुण्ड में अग्न्याधान करके उसमें आज्यादि सामग्री से होम किया और उस यज्ञाग्नि को साक्षी बनाकर वर-वधू का गठजोड़ा कर दिया। राजकुमार अपने हाथ में वधू के हाथ को लेकर ऐसे शोभायमान हो रहा था, मानो आम का वृक्ष अपने पल्लव से समीपस्थ अशोकलता के प्रवाल का ग्रहण कर रहा हो। उस एक ही क्षण में दोनों में प्रेम की भावना भिन्न-भिन्न रूप में प्रकट हुई; अज का शरीर रोमांचित हो रहा था, और इन्दुमती की अंगुलियां पसीज रही थीं। दोनों एक दूसरे को संस्कार की क्रिया के समय देखने को उत्सुक थे, परन्तु लज्जावश पूरी तरह नहीं देख रहे थे। आंखों के कोनों से देखने का यत्न करते और दृष्टियें मिलने पर उन्हें पलट लेते थे। प्रज्वलित यज्ञाग्नि की प्रदक्षिणा करते हुए वे दोनों ऐसे प्रतीत हो रहे थे, मानों सदा सम्बद्ध दिन और रात चमकते हुए मेरु पर्वत के इर्द-गिर्द घूम रहे हों। प्रदक्षिणा के पश्चात् पुरोहित के आदेशानुसार वधू ने लाजाओं की आहुति दी। आज्य और लाजों की आहुतियों से उठा हुआ सुगन्धित धूम्र इन्दुमती के कानों में कर्णोत्पल† के समान शोभा-

† कर्णाभूषण

यमान हो रहा था। यज्ञाग्नि के धुएं के कारण वधू की आंखों में जल आ रहा था, कर्णपूर (कानों के भूषण) को लगा हुआ बीजांकुर (एक गहना) मुरझा गया था, और उसके कपोल लाल हो रहे थे। संस्कार के अन्त में अज और इन्दुमती पर स्नातकों, सम्बन्धियों सहित राजा और गृहस्थ स्त्रियों ने गीले अक्षत (चावल) बरसाये।

इस प्रकार विधिपूर्वक बहिन का पाणिग्रहण संस्कार सम्पादित करके विदर्भराज ने अधिकारियों को आदेश दिया कि स्वयंवर में आये हुए अन्य नरेशों का आदर-सत्कार करें। नरेशों के हृदय में जलन थी, और मुंह पर मुस्कराहट। उनकी ऐसे तालाब की सी गति हो रही थी, जिसकी सतह पर शान्ति हो परन्तु अन्दर भयानक मगरमच्छ विचर रहे हों। भोजराज ने उन्हें जो भेंट दी, उसे उपहार के रूप में वापिस करके वे लोग राजधानी से विदा होगये।

राजधानी से तो राजा लोग विदा हो गये, परन्तु उनके दिलों में खोट था। पूर्व निश्चित इशारे के अनुसार कुछ दूर जाकर इन्दुमती को छीनने के लिये हिंस्र जन्तुओं के समान क्रोध में भरे हुए नरेशों का दल मार्ग रोकने के लिये एकत्र हो गया। राजा भोज ने भी अपनी बहिन का विवाह भली प्रकार समाप्त करके और अपने उत्साह के अनुसार उपहार देकर राघव को विदा किया, और स्वयं पीछे-पीछे चला। कुण्डीनेश‡ (भोज) तीन पड़ाव तक राजकुमार के साथ रहा। उसके पश्चात् अपनी राजधानी को लौट गया। राजाओं को दिग्विजय के समय सम्राट् रघु ने परास्त किया था, और उनसे कर वसूल किया था, इस कारण वे पहले से ही असन्तुष्ट थे, अब वे इस बात से तिलमिला उठे कि स्त्रीरत्न भी उसी के पुत्र के हाथ लगा, फलतः उस अभिमानी राजाओं के दल ने इन्दुमती को लेकर जाते हुए अज का रास्ता रोक लिया।

---

‡ कुण्डिन विदर्भ की राजधानी थी।

राजकुमार ने भोज-कन्या की रक्षा का कार्य अपने पिता के मन्त्री के नेतृत्व में सेना के सुपुर्द किया, और जैसे उमड़ती हुई गंगा के जल को शोणनद अपनी छाती पर ले लेता है, उसी प्रकार उसने शत्रु की महती सेना को थाम लिया। युद्ध में बराबर की टक्कर हुई। पैदल-पैदल से भिड़ गया, घुड़सवार घुड़सवार से और गजारूढ़ गजारूढ़ से जूझ गया। बिगुल बज रहे थे, इस कारण दोनों ओर के योद्धा जो अपने नाम और कुल की घोषणा करते थे, वह सुनाई नहीं देता था; उनकी सूचना एक दूसरे पर चलाये गये बाणों पर अंकित नामादि से ही होती थी। युद्ध की भयानकता बढ़ती । घोड़ों की टापों से जो धूल उड़ी उसे रथों के चक्रों ने गहरा कर दिया, और जब हाथियों के विशाल कानों ने उसे पंखों की तरह हिलाकर फैलाया तो धूलि ने सूर्य मण्डल को ढक लिया। आकाश इतना धूलिधूसरित हो गया कि रथ का अनुमान पहिये के शब्द से, हाथी का अनुमान गले में बंधे हुए घंटे के निनाद से, और योद्धाओं का अनुमान अपने मालिक के नाम की घोषणा से हो रहा था। सेनाओं के संघर्ष से उत्पन्न उस गर्द के घोर अन्धकार में मरे हुए घोड़ों और हाथियों का रुधिर-प्रवाह उषः काल की लालिमा की तरह चमक रहा था। रणभूमि शीघ्र ही रक्त से सराबोर होगई जिससे धूलि की जड़ें कट गईं, और आकाश में धूलि इस प्रकार दीखने लगी जैसे बुझती हुई आग का धुंआ हो।

युद्ध ने अत्यंत भयंकर रूप धारण कर लिया। शत्रु के शस्त्र से बेहोश हुए वीर जब होश में आते थे, तब ध्वजों को पहिचान कर घायल करने वाले शत्रु को ही मारते थे। वीरों की बलिष्ठ भुजाओं से फेंके हुए बाण यदि मार्ग में शत्रु के बाणों से काट भी दिये जाते थे, तो भी उनके अग्रभाग अपने प्रारम्भिक वेग के कारण लक्ष्य तक पहुँच ही जाते थे। गजारूढ़ सैनिकों के सिर, तेज धार वाले चक्रों से काट दिये जाते थे तो भी श्येनपक्षी केशों को पंजों में दबोच कर उन्हें लिये आकाश में देर तक मंडराते रहते थे, फलतः वे पृथ्वी पर बहुत

देर तक गिरते थे। संग्राम की इस भीषणता में भी वीर योद्धा क्षात्र धर्म के नियमों को नहीं भूलता था। जब उसके प्रहार से विरोधी घुड़सवार घोड़े की पीठ पर ही मूर्छित हो जाता था, तब प्रहर्ता उस पर दूसरा प्रहार न करके यह चाहता था कि वह शीघ्र ही होश में आये और बराबरी की लड़ाई हो। युद्ध में मरे हुए हाथी-सवार योद्धाओं की नंगी तलवारें हाथों से छूट कर जब हाथियों के दांतों पर पड़ती थीं तो आग उत्पन्न हो जाती थी, जो मस्त हाथियों के गण्डस्थल से बहते हुए जल से शान्त हो जाती थी। वह युद्धभूमि मृत्यु की पानभूमि (मधुशाला) सी बन रही थी। बाणों से काटे हुए योद्धाओं के सिर फलों की तरह सज रहे थे, नीचे गिरे हुए शिरोवस्त्र प्यालों की जगह थे, जिनमें रुधिर सुरा के समान ढल रहा था। कोई क्षत्रिय वीर-गति को प्राप्त होने पर स्वर्गगामी विमान में अप्सरा के संग आरूढ होकर आकाश से अपने ही कबन्ध (सिरकटे धड़) को नाचता हुआ देख रहा था। युद्ध की भीषणता का यह हाल था कि जो दो योद्धा सारथियों के मर जाने पर स्वयं ही अपने रथों के सारथी बन गये थे, घोड़ों के मरने पर पैदल हो कर गदाओं से लड़ने लगे, और गदाओं के भी टूट जाने पर गुत्थमगुत्था हो गये। दो वीरों ने एक दूसरे पर इकट्ठा ही प्रहार किया जिससे दोनों के इकट्ठे ही प्राण निकल गये, और दोनों इकट्ठे स्वर्ग में पहुंचे तो वहां दोनों में एक अप्सरा के प्राप्त करने पर विवाद छिड़ गया।

जैसे आगे और पीछे के फान की थपेड़े खा कर समुद्र की लहरें कभी ऊपर उठती हैं और कभी नीचे गिरती हैं, उसी प्रकार वे दोनों सैन्य-समूह क्रमशः कभी विजय की ओर बढ़ते और कभी नष्ट होते दिखाई देते थे। शत्रुओं ने अज की सेनाओं को छिन्न-भिन्न कर दिया, तो भी अज तो शत्रुओं की ओर बढ़ता ही गया। वायु धुएं को उड़ा सकती है, परन्तु अग्नि तो उधर ही जायगी जिधर घास का ढेर है। वह मैदान में अकेला खड़ा रह गया, परन्तु रथ तूणीर कवच

और धनुष शक्तियों से सुसज्जित वह उस बाढ़ को ऐसे रोक रहा था जैसे प्रलय काल में उमड़ते हुए सागर के जल को विष्णु के वराहावतार ने रोका था। युद्ध में उसका दाहिना हाथ तूणीर से धनुष तक बाणों को निरन्तर और शीघ्र पहुंचाता हुआ अनेकरूप सा दिखाई देता था। उसके धनुष की कान तक खिंची हुई प्रत्यंचा मानो शत्रुओं का नाश करने वाले बाणों को प्रतिक्षण जल दे रही थी। उसने अपने धनुष से मुक्त भालों (बाण विशेषों) द्वारा काट काट कर रणक्षेत्र में नरमुण्डों का ढेर लगा दिया। उन नरमुण्डों के होंठ क्रोध के मारे काटते-काटते लाल हो गये थे, त्योरियों की रेखायें स्पष्ट रूप से चढी हुई थीं, और अब तक भी मुंह में मानो हुंकार का शब्द भरा हुआ था। अज का यह पराक्रम देख कर राजा लोग सब सेनाओं और सब शस्त्रास्त्रों की सहायता से उसी पर आक्रमण करने लगे। जैसे कुहरे से ढके हुए प्रभात का अनुमान केवल धुंधले से सूर्य से लगाया जाता है, वैसे उस समय रथ के अस्त्रों द्वारा ढके जाने पर उसका अनुमान केवल ध्वजा से लगाया जा सकता था। ऐसी संकटमय दशा में राजकुमार को प्रियंवद से प्राप्त सम्मोहनास्त्र का स्मरण आया। उसने शत्रुओं की सेना पर उस अस्त्र का प्रयोग कर दिया। सम्मोहनास्त्र का प्रहार होने पर शत्रुओं की सेना की यह दशा होगई जो कि हाथ धनुष की प्रत्यंचा को खेंच रहे थे वह वहां से छूट गये, शिरस्त्राण कन्धों पर गिर गये, और शरीर ध्वजा के खम्भे पर झुक गये। शत्रु की सेना सो गई। उस समय विजयी राजकुमार ने शङ्ख उठा कर होठों से लगाया और जोरदार विजय ध्वनि की, मानो उस शङ्ख के मार्ग से भुजबल से रचाये हुए विशुद्ध यश का पान कर रहा हो। अपने सेनापति के शङ्खस्वर को पहिचान कर भागते हुए योद्धा लौट आये और यह देख कर हर्ष से फूल गये कि राजकुमार तालाब में कुम्हलाये पंकों के मध्य में चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब की भांति शोभायमान हो रहा था, मूर्छित नरेशों के रथ-केतुओं पर राघव द्वारा अङ्कित किये हुए रक्तरंजित बाण मानो नरेशों

से कह रहे थे कि "तुम्हारा केवल यश छीना गया है, प्राण नहीं, इसका कारण कृपा है, अशक्ति नहीं।"

बेचारी इन्दुमती संग्राम की भयानकता से घबरा-सी रही थी। युद्ध से जीतकर जब राजकुमार राजकुमारी के पास आया, तब उसका एक हाथ धनुष की कोटि पर रखा हुआ था, केश-समूह शिरस्त्राण से निकल कर कपोलों पर फैल रहा था और माथे पर पसीनें की बूंदें झलक रही थीं। राजकुमारने इन्दुमती से कहा—इन राजाओं को देखो। अब बच्चा भी इनके हथियार छीन सकता है। ये लोग इस बहादुरी के जोर पर मुझसे तुम्हें छीनना चाहते थे। दर्पण पर से सांस को भाप को दूर कर देने से जैसे मनुष्य का चेहरा स्पष्ट दीखने लगता , उसी प्रकार शत्रुओं का भय हट जाने से इन्दुमती का चेहरा भी प्रसन्न और व्यक्त दीखने लगा।

अज की विजय से इन्दुमती बहुत प्रसन्न हुई, तो भी उसने अपनी प्रसन्नता स्पष्ट रूप से प्रगट नहीं की। जैसे आषाढ़ की वृष्टि से तृप्त हुई भूमि बादलोंका अभिनन्दन मयूरी के केका-शब्दों से करती है, वैसे ही राजकुमारी ने लज्जा वश राघवका अभिनंदन सखियों द्वारा किया।

इस प्रकार सम्राट् रघु का पुत्र विरोधी राजाओं के मस्तकों पर पांव धरकर उस निर्दोष राजकुमारी को घर ले आया। सेना के अश्वों की खुरों से उठे हुए रेणुओं ने इन्दुमती के सुन्दर केशों को सूखा करके उसे साक्षात् अज की विजयलक्ष्मी का रूप दे दिया था।

रघु को अज की जीत का वृत्तान्त पहले ही विदित हो गया था। विजयी पुत्र के उत्तम वधू सहित राजधानी पहुँचने पर सम्राट् ने उसका हार्दिक अभिनन्दन किया और समस्त परिवार और राज्यका भार उसके कन्धों पर डालकर स्वयं शान्तिमार्ग का अवलम्बन किया। यह सूर्यवंशी राजाओं की कुल-प्रथा थी कि पुत्र के समर्थ हो जाने पर वह गृह को छोड़कर तपोवन के निवासी बन जाते थे।







श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति लिखित पुस्तकें

ऐतिहासिक तथा जीवन चरित्र

१. मुगल साम्राज्य का क्षय और उसके कारण ६॥)

२. महर्षि दयानन्द [illegible]॥)

राजनीतिक

१. जीवन संग्राम १)

२. स्वतन्त्र भारत की रूपरेखा १।)

साहित्यिक

१. सम्राट् रघु (हाथों में १।)

उपन्यास

१. सरला की भाभी २)

२. सरला ३॥)

३. आत्मबलिदान ३)

४. जमींदार २)

५. शाह आलम की आंखें ४)

संस्मरण

१. दिल्ली के वे स्मरणीय बीस दिन ॥)

२. मैं चिकित्सा के चक्रव्यूह से कैसे निकला ॥)

३. मेरे नौकरशाही जेल के अनुभव १॥)

प्राप्तिस्थान

१. विजय पुस्तक भण्डार, श्रद्धानन्द रोड, दिल्ली.

२. आत्माराम एण्ड सन्स, काश्मीरी गेट, दिल्ली.

३. आर्य पुस्तक भण्डार, नई सड़क, दिल्ली.